एक वासन्ती रात

मनमोहन मदारिया

एक वासन्ती रात

मनमोहन मदारिया

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२६ ए, चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र । नई सड़क, दिल्ली

मूल्य :
तीन रुपये

मुद्रक :
पुरी प्रिन्टर्स
करौल बाग, नई दिल्ली

शबे मालवा के प्रति

जिसकी तनहाइयों में मैंने

'क्या सच, क्या झूठ' महसूस किया !

'एक वासन्ती रात' का राज़

मदरसे में गुरुजी ने बार-बार सिखाया था—शिष्य ! सत्य बोलना सीखो; झूठ बोलना उचित नहीं।

घर में बड़े-बूढ़ों ने जब-तब उपदेश दिया था—साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप !

झूठ के विपक्ष में अंग्रेजी की यह कहावत भी सुनी-पढ़ी है—एक झूठ के लिए हज़ार झूठ गढ़ने पड़ते हैं।

इस सबके बावजूद मैं कहानियाँ कहता हूँ यानी खुले आम झूठ बोलता हूँ और जिस पर तुर्रा यह है कि इसका जी में ज़रा भी मलाल नहीं, बल्कि संतोष ही है—कुछ वैसा ही संतोष जैसा युधिष्ठिर को द्रोणाचार्य के समक्ष ऐतिहासिक झूठ बोलते हुए अनुभव हुआ था। लेकिन मैं युधिष्ठिर नहीं हूँ कि झूठ भी बोलूँ और 'धर्मराज' बनने का ढोंग भी करूँ। मैं तो एक कहानीकार हूँ और जानता हूँ कि ज़िंदगी के लिए झूठ बोलना कितना ज़रूरी है, कि झूठ बोलना कितना 'रिस्की' है।

यों, कहानी की कला को मैं झूठ बोलने की कला मानता हूँ और जिस तरह अच्छी झूठ वही जो झूठ मालूम न पड़े, उसी तरह अच्छी कहानी वही जो कहानी नहीं हक़ीक़त जान पड़े। 'एक वासन्ती रात' संकलन की कहानियाँ किस हद तक कहानियाँ और किस हद तक हक़ीक़तें हैं—इसका निर्णय तो अब आप ही करें, मेरा कर्त्तव्य तो उनको बयान करने के साथ ही ख़त्म हो जाता है।

हक़ीक़त बयान करना कितने जोखम का काम है, यह एक कहानीकार ही जानता है। अपनी बात कहूँ तो मुझे तो 'कथा-कहानी' में 'प्रेत-लेखक' के प्रकाशित होते ही खेचकजी से आधी रात को सुलझना पड़ा है, 'कहानी' में 'कठपुतली' के निकलते ही जागेश्वरनाथ की वक्र भृकुटियों का शिकार होना पड़ा है, 'कल्पना' में 'नमूने' के छपने के बाद से ही भंडारी सा'ब मेरी ख़बर

लेने लगे हैं, और···लेकिन ये मेरे व्यक्तिगत मामले हैं, आपको भला इसमें क्या दिलचस्पी ? मैं तो यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इतने दुश्मन खड़े कर मैं भी शायद क़लम उठाना भूल जाता यदि 'क्या सच, क्या झूठ' की मिस रम्भा ने एक कृतज्ञ मुस्कान से अथवा 'कठपुतली' के शमशेर ने सीने से लगा-कर मेरे कहानीकार को बल न दिया होता। यह बल ही मेरी कहानी कला का प्रेरणा-स्रोत है—मैंने हज़ारों व्यक्तियों की मुस्कान सँजोने के लिए यूँ चन्द लोगों का कोप झेलने का जोखम उठाया है। यही राज़ है मेरे मिथ्या भाषी यानी कहानीकार होने का। इस बात को मेरी कहानियाँ अधिक स्पष्टता से प्रमाणित करती हैं, इसलिए अब उन्हें ही देखिए, कहानीकार को तो विदा दीजिए।

डी १० लक्ष्मीबाई नगर,
इन्दौर

क्रम :

कहानी और ज़िन्दगी

मैं अपनी कहानी के लिए नायक की खोज में था कि मेरी नज़र सामने पुलिस लाइन्स की बैरक के बरामदे में खाट पर बैठे, वर्दी खोलते कान्स्टेबल 'नम्बर सत्रह सौ साठ' पर पड़ी। यह एक संयोग ही था जो मैंने उसे उसी क्षण अपनी कहानी का नायक चुन लिया, क्योंकि अब वह ज़माना तो है नहीं कि युग-नायक ही कहानी के नायक बनाये जायें। मैंने अपनी कहानी के नायक के सामने अख़बार का एक पुरज़ा फेंक दिया और अपने नायक की गतिविधि पर ग़ौर करने लगा।

नम्बर सत्रह सौ साठ (सुविधा के लिए ही यह सम्बोधन चुना है। इसे अन्यथा न मानें।) पर एकाएक कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह उसी तरह अपना कमर-पट्टा खोलते हुए सीटी बजाता रहा। जब वह अपने लौंग-बूटों का तस्मा ढीला करने को झुका तो उसकी निगाह उस अख़बार के टुकड़े पर पड़ी। हवा के हल्के झोंकों में वह टुकड़ा परचम की तरह उड़ रहा था। नम्बर सत्रह सौ साठ ने उसे अनायास ही उठा लिया, और ज्योंही उसकी नज़र मज़मून पर पड़ी, वह उत्सुक हो गया। तस्मा छोड़ वह उसे ही पढ़ने लगा। मज़मून यों था—

एक कान्स्टेबल को मानपत्र—कानपुर, १ मई। ज़िले के रामगंज थाने के कान्स्टेबल फक़ीरचंद को ज़िलाध्यक्ष महोदय ने आज मानपत्र और सौ रुपये नक़द इनाम दिये। ज्ञात हुआ है कि कान्स्टेबल फक़ीरचन्द जब ड्यूटी बजा रहा था, तब रोड पर उसे एक मनिबैग पड़ा मिला, जिसमें तीन हज़ार रुपये नक़द, कुछ रेज़गी, दो-एक महत्त्वपूर्ण काग़ज़ात और तीन चाबियाँ थीं। कान्स्टेबल फक़ीरचंद ने मनिबैग जैसा मिला, वैसा ही थाने में जमा कर दिया। मनिबैग सेठ रतनलाल का था। सेठ रतनलाल अपना मनिबैग रक़म सहित पाकर बहुत प्रसन्न हुए।...

...नम्बर सत्रह सौ साठ ने दो-तीन बार यह मज़मून पढ़ा, लेकिन उसकी समझ में यह न आया कि रामगंज थाने के उस कान्स्टेबल ने आखिर

ऐसा क्या किया जो उसे यह इनाम और मानपत्र दिया गया ? मनिबैग लौटाना तो उसकी सामान्य ज़िम्मेदारी थी । इसमें असाधारण बात क्या हुई ?

मुझे अपने कहानी-नायक की कम समझ पर तरस आया, लेकिन जो बात मैं उस मूढ़ से कहना चाहता था, वह उसकी घरवाली ने (जो निरक्षर ज़रूर थी लेकिन बुद्धिहीन नहीं) कह दी, "अरे भले मानुष ! बात साधारण हो या असाधारण लेकिन नाम और शोहरत तो मिल गयी उसे। तुम्हें कभी मिला है ऐसा जस ? पिंशन पाने का टेम आया लेकिन पीतल तक का तमगा तो नहीं मिला । हूँ !"

इस चुनौती से नम्बर सत्रह सौ साठ का अंग-अंग फुँक गया । बोला, "मौक़ा मिले तो मैं भी बता दूँ, मैं क्या हूँ ?"

"ओ हो, लो सुनो; हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से मौक़ा कहीं मिला है ?"

इस बात का नम्बर सत्रह सौ साठ के पास भला क्या उत्तर हो सकता था ? वह सोचने लगा। साँझ को उसके गले भोजन न उतरा । रात्रि में उसे ठीक-ठीक नींद न आई । उसके दिमाग़ में कई अजीबोग़रीब ख़याल आये । कुछ जँचे, कुछ न जँचे । घरवाली की चुनौती मस्तिष्क में खटक रही थी । उसका व्यावहारिक उत्तर तो सिर्फ़ एक ही हो सकता था—वह कुछ उपाय करे, हाथ-पैर मारे । लेकिन क्या उपाय करे, कहाँ हाथ-पैर मारे ? रात्रि भर करवटें बदलता हुआ वह यही सोचता रहा । अंततः मुझे अपने कहानी-नायक को मदद देनी पड़ी । मैंने उसके बहुत क़रीब जाकर, उसके कान में अत्यन्त धीमे से एक बात कही, जिसे सुनते ही वह फड़क उठा। फिर उसने दो-एक शंकाएँ उठायीं ; लेकिन मैंने उसी तरह सन्तुष्ट कर दिया ।

अब वह दूसरी ही दुनिया में था । यश के रंगीन मोह में घिरकर वह जैसा मैंने कहा, वैसा ही कर रहा था । दिन भर वह दौड़-धूप करता रहा । अनेक छिटपुट कार्य निबटाने के बाद ढलती दुपहर में क़रीब चार बजे, जब वह अपने थाने में फिर आया तो उसका चेहरा असामान्य उत्तेजना से तम-तमाया हुआ था ।

मेरे कहानी-नायक के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षण अब क़रीब आ गया था । वह फुर्ती से थानेदार साहब के कमरे में दाख़िल हुआ और उसने पूरी चुस्ती से अपने अफ़सर को 'सेल्यूट' ठोका । थानेदार साहब पचासेक

वर्ष की आयु के प्रौढ़ व्यक्ति थे ; लेकिन कुछ बालों के सफ़ेद होने के अलावा उनके शरीर में कहीं ढलती आयु का चिह्न न था। उस समय वह चुरुट दबाये 'रंगीन रातें' पढ़ रहे थे। कान्स्टेबल नम्बर सत्रह सौ साठ को असमय उपस्थित देख, वह कुनमुनाये। बोले, "क्या तुम्हारी ड्यूटी पूरी हो गयी ?"

"जी नहीं।"

"फिर ?"

"जी, एक ख़ास वजह से आना पड़ा।"

"हूँ, कहो।"

उसने अपनी पैंट की जेब से एक थैली निकाली और उसे थानेदार साहब के सामने मेज़ पर रखते हुए कहा, "जी, यह रास्ते में मुझे मिली है।"

"क्या है इसमें ?"

'जी, मुझे नहीं मालूम।"

"हूँ। थानेदार साहब ने कान्स्टेबल के चेहरे पर एक खोजती-सी दृष्टि फेंकी और भाँपने की चेष्टा की, कि वह कितना सच बोल रहा है। फिर थैली को एकबारगी हाथ में लेकर खोलते हुए कहा, "खोलकर देखो, क्या है ?"

"बहुत अच्छा हुज़ूर।" नम्बर सत्रह सौ साठ ने उस मैली-सी थैली की गाँठ खोली और मेज़ पर उल्टाते हुए कहा, "रक़म है, हुज़ूर।"

मेज़ पर दस, पाँच, एक के नोट तथा रेज़गी बिखर गयी थी। थानेदार साहब ने हुक्म दिया, "गिनो।"

वह अपने ढंग से मेज़ पर बिखरी रक़म को गिनने लगा। दस-दस के बीस, पाँच-पाँच के चार, एक-एक के छः नोट, बाक़ी नौ रुपये पाँच आने रेज़गी थे। "हूँ। रक़म तो काफ़ी है।" थानेदार साहब ने पूछा, "मालूम है किसकी है ?"

"क्या मालूम, हुज़ूर।" अत्यन्त विनीत स्वर में नम्बर सत्रह सौ साठ बोला, "मुझे तो चौराहे के पास रोड के किनारे पड़ी हुई मिली। मैंने तो उसे खोलकर भी नहीं देखा। सीधा थाने चला आया।" फिर कुछ रुककर बोला, "मुंशीजी को बुला दूँ, हुज़ूर ?"

"ज़रा ठहरो। पहले इस रक़म को उसी तरह थैली में समेट दो।"

जब उसने वह रक़म थैली में फिर रख दी, तो थानेदार साहब ने हुक्म दिया, "यह थैली यहीं पड़ी रहने दो और तुम ड्यूटी पर जाओ।"

इस आदेश के बावजूद वह रुका रहा तो उन्होंने ऊँची आवाज़ में फिर कहा 'जाओ।' वह कमरे से बाहर तो निकला, लेकिन उसे थानेदार साहब का रुख कुछ समझ में न आया। वह अपनी ड्यूटी पर जाने के बजाय थाने के सामने सड़क पर चहलक़दमी करते हुए अनेक अटकलें लगाने लगा।

जाने क्यों इस क्षण मुझे भी भय हुआ, कहानी के सूत्र मेरे हाथ से छूट तो नहीं रहे हैं? अपने कहानी-नायक को इस परेशानी में देखकर मेरा यों सशंक होना अस्वाभाविक नहीं था। यह थानेदार···

मैं शायद इस स्थिति में अपने कहानी-नायक को दिलासा बंधाता, लेकिन इस बीच सड़क के मोड़ पर एक देहाती दिखा। नम्बर सत्रह सौ साठ ने उस देहाती को देखा तो उसकी आँखें चमक उठीं। वह लपककर उस देहाती के पास गया, क्षण दो क्षण बातें कीं और फिर विलग हो गया। देहाती अपनी अटपटी चाल से घिसटता हुआ थाने में दाखिल हुआ। थानेदार साहब के सामने पहुँचा। बोला, "हुज़ूर माई-बाप हैं। दोपहर को बाज़ार से लौट रहा था। राह में कहीं रुपयों की बसनी गिर गयी।" और उसने थानेदार साहब के पैर पकड़ लिये।

थानेदार साहब ने पैर समेटते हुए पूछा, "कितनी रक़म थी बसनी में?"

"दो सैंकड़ा, पैंतीस रुपये और पाँच आने।" वह इस तरह बोल रहा था जैसे हर संवाद रटे हुए हो!

"इतने रुपये आये कहाँ से तेरे पास? कहीं हाथ मारा था?"

"नहीं हुज़ूर, बैल-जोड़ी बाज़ार में बेची थी, सो उसी की रकम थी वह।"

"बैल-जोड़ी क्यों बेची थी ?"

"नयी जोड़ी लेने का इरादा था, हुज़ूर।"

"सच बोलता है ?"

"जिसकी कहें, उसकी सौगन्ध ले लूँ, हुज़ूर।"

"अच्छा, अच्छा! ठीक है। जाओ, मुंशीजी के पास रिपोर्ट दर्ज करा दो। पता लगाएँगे। और उन्होंने 'रंगीन रातें' फिर उठा लीं।

"हुऽज़ूऽऽर!" देहाती वहीं खड़ा था।

"अब क्या कहना चाहते हो?" थानेदार साहब ने पुस्तक के पृष्ठ पर नज़र गड़ाये हुए ही पूछा।

"हुज़ूर, रपट की क्या ज़रूरत ? कोई बसनी जमा कर गया हो तो दिलवादें। हुज़ूर का अहसानमंद हूँगा।"

"कौन जमा करा गया होगा रे ? बोल।"

"मैं क्या बताऊँ, हुज़ूर ? किसी को मिली तो होगी। वही जमा करा गया होगा।"

"कहा तो, अभी कोई जमा नहीं करा गया। अब जा, दिमाग़ मत चाट। रिपोर्ट दर्ज करा दे।"

देहाती बाहर निकला, लेकिन वह मुंशीजी के पास रिपोर्ट लिखाने नहीं पहुँचा, सीधे उस तरफ़ आया, जहाँ नम्बर सत्रह सौ साठ चहलक़दमी कर रहा था। देहाती को देखते ही उसने पूछा, "कहो क्या हुआ ?"

"वह तो मुकरता है। देहाती ने सारा क़िस्सा बयान कर दिया। सुनते ही, नम्बर सत्रह सौ साठ के तो जैसे हाथ-पाँव फूल गये ! इस क्षण यदि मैं उसकी हिम्मत न बंधाता तो कोई आश्चर्य नहीं, वह वहीं बेहोश हो कर गिर पड़ता। यह थानेदार तो उस शरारती बालक की सी दुष्टता करता जान पड़ा जो अपने पड़ोसी बच्चे की स्लेट पर बड़ी मेहनत से लिखी इबारत को बार-बार मिटा दे। पर उससे सुलझने के सिवाय उपाय ही क्या था ?

देहाती ने नम्बर सत्रह सौ साठ को प्रेरित किया, "भैया, तुम चलो मेरे साथ थानेदार साहब के पास। तुमसे तो झूठ बोल नहीं सकते वे।"

"हाँ, हाँ, चलो।" कहकर इस ढंग से वह बढ़ा जैसे चाबी-भरा अमरीकी खिलौना चले !

थानेदार साहब ने दूर से उन दोनों को देख लिया। वह मौक़े के लिए तैयार हो गये। नम्बर सत्रह सौ साठ बोलता, इसके पहले ही उनकी रौबीली आवाज़ गूँजी, "नम्बर सत्रह सौ साठ !"

"जी।"

"ड्यूटी पर नहीं गये ?"

"जा तो रहा था हुज़ूर, मगर—"

"तुम्हें नौकरी करनी है या नहीं ?"

"जी नौकरी तो करनी है, मगर—"

"अरे, अगर-मगर के बच्चे !" थानेदार साहब क्रोध से काँप रहे थे, "मैं कहता हूँ, फ़ौरन ड्यूटी पर जाओ।...जाओ।"

"हुज़ूर !" उसने आख़िरी कोशिश करनी चाही, लेकिन थानेदार

साहब तो जैसे कुछ सुनने के लिए ही तैयार न थे। बोले, "मैं कहता हूँ, जो कुछ कहना है, ड्यूटी के बाद कहना। ड्यूटी इज़ ड्यूटी। समझे ?"

सत्रह सौ साठ अपना-सा मुँह लिये लौट गया तो थानेदार साहब ने आवाज़ दी, "मुंशीजी ?"

मुंशीजी हाज़िर हुए। देहाती की ओर संकेत करते हुए थानेदार साहब ने पूछा, "इसकी रिपोर्ट दर्ज की ?"

"जी, इसने तो लिखायी ही नहीं।"

"अरे भाई, कहा न"—देहाती की ओर मुख़ातिब होकर थानेदार साहब ने पूरी संजीदगी से कहा, "रिपोर्ट दर्ज कराओ। खोज-बीन करेंगे। रक़म सँभालकर रखते नहीं हो और बखेड़ा खड़ा कर देते हो हम लोगों के लिए…"

साँझ ढल आई थी। थाने की ओट में बनी, पत्थर की पुलिया पर मेरा कहानी-नायक इस तरह उदास और बेजान बैठा था कि सचमुच मुझे अपने आप पर कोफ़्त हुई, अपनी कहानी-कला पर कोफ़्त हुई। मैं तो कहानी कहने जा रहा था, लेकिन वह तो ज़िन्दगी बन गयी थी, आज की ज़िन्दगी ! मेरी कहानी का नायक इस समय क्या सोच रहा है ? क्या वह यूँ निराश होकर आत्महत्या कर लेगा ?

बुज़दिल, कायर ! …पर मैं उसके लिए क्या करूँ ?

लगा, जैसे कहानी के सारे सूत्र मेरे हाथ से निकल चुके हैं, पर मैं आख़िरी दम तक कोशिश करूँगा…हाँ, आख़िरी दम तक !

अब पुलिया पर दो व्यक्ति बैठे थे, कान्स्टेबल और देहाती। देहाती कह रहा था "जमादार भैया, अब क्या हो ?'

"तुम्हीं बताओ, हम क्या करें ?"

"कहो तो साले थानेदार को…"

"चुप-चुप। धीमे बोलो।"

"डरते क्यों हो ? हम…"

"सोचता हूँ, नौकरी पर आ बनेगी।"

"हाँ ! सो तो है।" देहाती ने लम्बी साँस भरी।

"देखो, अब इसकी किसी से चर्चा न करना। रुपये तो गये ही, फ़िज़ूल हँसी और होगी।"

मैंने सिर धुन लिया। मेरा कहानी-नायक इतना कमज़ोर निकलेगा, मैंने सोचा न था। मैंने उसे ललकारा······'मित्र, यह क्या कर रहे हो? अन्याय का मुक़ाबला करो। झुको मत। अपने आपको पहचानो। तुम महान् बन सकते हो। ज़िन्दगी क्या है? पानी का बुलबुला।···'

'हा, हा!···' इस बार बड़ी विषाक्त हँसी हँसा मेरी कहानी का नायक! बोला, 'एक बार तुम्हारी बात मानकर मैं इतनी झंझट में पड़ा। अब मैं तुम्हारी कोई बात नहीं मानूँगा। तुम चुप रहो।'

आह वह मेरे नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त हो चुका था! मैं चाहता था, वह एक महान् कहानी का महान् नायक बने, लेकिन···

ज़रा उसे देखो तो, कैसा ढीठ है वह जो थानेदार साहब के सामने सिर झुकाये खड़ा, गिड़गिड़ा रहा है, ' जी, हुज़ूर माफ़ करें। ग़लती हो गयी।''

उसके सामने थानेदार साहब ने दस का पत्ता फेंक दिया है, जो प्रमाणपत्र है उनकी सहृदयता का, उनकी उदारता का! उस पत्ते को नम्बर सत्रह सौ साठ इस तरह उठाता है मानो सचमुच उसे कोई नियामत हाथ लग गयी है!

और अब कहिये, कहानीकार क्या करे जब उसका कहानी-नायक ही यूँ मनमानी पर आमादा हो जाये!

क्या सच, क्या झूठ

मिस रम्भा के बारे में कोई क्या सोचे ? वह जैसे गीत की कोई अधूरी लय-हीन पंक्ति ! उस बेतुके नग़मे को कौन होठों पर सँवारे, गुनगुनाये। देह तो थी उसकी अत्यन्त नाजुक और छरहरी लेकिन वर्ण ऐसा पीला और सफ़ेद मानो रक्त की आख़िरी बूँद भी निचोड़ ली गयी हो। सुर्ख़ी नहीं, जीवन नहीं···भरे यौवन में ठंडी, निस्पंद ! बड़ी-बड़ी आँखें, लेकिन उनमें चमक नहीं। प्राणों का आलोक नहीं। पिछले चार-छः माह से हिस्लप कालेज की जर्नलिज़्म क्लास में थी, रोज़ मिलती थी, बातें करती थी, लौटते वक़्त अक्सर जुम्मा टैंक के छोर तक साथ हो लिया करती थी। लेकिन सच कहूँ, इतने साथ के बावजूद वह मेरी दृष्टि में कोई अर्थ नहीं रखती थी और अधूरी पंक्ति में भला कोई क्या अर्थ खोजे !

जुम्मा टैंक के किनारे नन्हे दरख़्तों की तरह खड़े लैम्प-पोस्टों से हल्की रोशनी पानी की नीली सतह पर पड़ रही थी। रम्भा आज रोज़ की तरह अपनी मंद कमज़ोर आवाज़ में कोर्स के बारे में बातें नहीं कर रही थी। वह खामोश थी···छाती से पुस्तकें चिपकाये, नज़र झुकाये साये की तरह चल रही थी। मैंने चाहा कि यह मनहूसी टूटे, लेकिन उस पर दृष्टि डाली तो उत्साह न हुआ। इस क्षण वह मुझे एक चलती-फिरती खामोश क़ब्र जान पड़ी। खामोश क़ब्र से भला कोई क्या बातें करे !

काफ़ी देर हम यूँही चलते रहे···गुमसुम, नि.शब्द, अपने आप में डूबे हुए !

आख़िर वह चौराहा आया, जहाँ हमारे रास्ते जुदा होते थे। मैं अपने रास्ते की ओर मुड़ने लगा तो रम्भा ने कहा, "तो आप जायेंगे ?"

उसकी आवाज़ स्पष्ट ही अस्वाभाविक थी, शायद भर्रा रही थी।

उसके प्रति मैंने सहानुभूति अनुभव की; कहा, "क्यों, कोई ख़ास बात है ?"

उसने मुझे तीखी दृष्टि से एक क्षण घूरा; फिर बोली, "नहीं, कोई बात नहीं, आप चलिये।"

लेकिन मैं अपने रास्ते पर आगे बढ़ न सका। मुझे महसूस हुआ कि रम्भा की खामोशी की ओट में हलचलों का तूफ़ान छुपा हुआ है, शायद वह कोई बात मुझसे कहना चाहती है। मैंने उसके क़रीब बढ़कर पूछा, "बताओ न, रम्भा, क्या बात है ?"

अचानक ही वह बोली, "यह मेनन बहुत दुष्ट है !"

मेनन ऊँचा-पूरा गठीले डील-डौल का एक ईसाई युवक था और जर्नलिज़्म की क्लास में हमारा सहपाठी था। मिस रम्भा की इस बात का आख़िर क्या मतलब ? मैं पूरी बात सुनने के लिए चौकन्ना हो गया, लेकिन रम्भा तो जैसे विमटो की बोतल की तरह खुल गयी थी। अब वह हँस रही थी ; उसके चेहरे पर हँसी का फेन इस तरह उभर आया था जैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था, लगातार क़हक़हे !

हँसते हुए ही वह सामने खड़े एक रिक्शे की ओर बढ़ गयी और उसमें बैठकर तेज़ी से ओझल हो गयी। हँसी से दोहरी होती हुई मिस रम्भा सच-मुच मेरे लिए एक पहेली हो गयी। बिजली की चमक की तरह वह मेरे ख़यालों में उतर गयी··· मैं उसके बारे में सोचने के लिए विवश था।

और जो बात पहले एकाएक पकड़ में न आयी थी, उसे किंचित ग़ौर करने पर मैं सहज ही समझ गया—मेनन ने रम्भा से ज़रूर कोई शरारत की होगी, उसे छेड़ा-छाड़ा होगा, उसकी नज़र में रम्भा चढ़ गयी है, तभी तो··· ओह, इतनी सीधी-सी बात ! यह रहस्योद्‌घाटन विचित्र था। मैं हक्का-बक्का रह गया। एकाएक विश्वास नहीं होता था लेकिन अविश्वास भी तो नहीं कर सकता था – रम्भा आख़िर मुझसे झूठ क्यों बोलेगी ?

उस दिन के बाद मैं मेनन पर, उसकी हलचलों पर नज़र रखने लगा, लेकिन मुझे कभी कोई ऐसी बात न दिखी जिससे वह 'दुष्ट' समझा जा सके। वह एक हँसमुख और वाचाल युवक था। लेकिन वह कभी भद्दा व्यवहार न करता और क्लास में रम्भा उसके क़रीब भी बैठी होती तो भी वह उसमें कोई रुचि न लेता—कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता था। लेकिन रम्भा का एक ही हठ था ; मेनन के प्रति उसकी शिकायतों का ख़जाना उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। एक दिन उसने पूछा, ''मैं क्या ऐसी सुन्दर हूँ जो लोग-बाग मुझे एकटक घूरें !'

प्रत्युत्तर में मैंने एक उचटती-सी निगाह उसके चेहरे पर डाली ; फिर कहा, "तुम बदसूरत तो नहीं हो, लेकिन फिर भी लोग तुम्हें घूरें क्यों ?"

मेरे उत्तर से शायद वह प्रसन्न हुई। मैंने फिर कुछ सोचते हुए कहा, "नहीं, तुम्हें ग़लतफ़हमी हुई है!"

उसने कहा, "आप तो जानते नहीं इन लड़कों को। पूरे शोहदे हैं जी!"

स्पष्ट ही उसका यह आरोप मेनन पर था। मैंने खण्डन करना चाहा लेकिन जैसा कि कहा गया है—शक का कोई इलाज नहीं, मैं रम्भा का भ्रम दूर न कर सका।

इधर मैंने ग़ौर किया, इन दिनों रम्भा अपने मेकअप के बारे में विशेष सतर्क रहती, उसका शृंगार भव्य और आकर्षक होता। उसके स्वास्थ्य में भी कुछ सुधार हुआ था—वह कुछ शोख और मादक दिखने लगी थी। उसके नाक-नक़्श तो यूँ भी आकर्षक थे, उन पर ज्यों-ज्यों मांस और रक्त चढ़ने लगा, उसका रूप किसी फूल की तरह निखर उठा। अब वह बहुत प्रसन्न और हँसमुख दिखती। मुझे सन्देह हुआ, शायद उसके जीवन में कोई आ गया है। उसकी आँखों में मैंने जो रंगीन डोरे देखे, वे मुझे धोखा नहीं दे सकते—निश्चय ही उन रंगीन डोरों में प्यार का कोई सपना बुना था! तो क्या मेनन सचमुच।...

पिछले पखवाड़े मैं क्लास में उपस्थित न हो सका था और उस दिन भी जल्दी में था। लेकिन रम्भा ने मुझे रोक लिया और बोली, "आपने मेरे संबंध में मेनन से कोई बात की थी?"

"नहीं तो!" मैंने कहा।

लेकिन रम्भा ने एतबार न किया; वह बोली, "नहीं, आप छिपाते हैं—आपने उससे ज़रूर कोई बात की है!"

मैंने शपथ खायी; हज़ार तरह से उसे समझाने की कोशिश की लेकिन उसे एतबार न हुआ, न हुआ।

इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरे दिन सचमुच ही मैं मेनन से रम्भा का ज़िक्र छेड़ बैठा। हम कैफे वृन्दावन में मिले थे। मेरी बात सुनते ही वह एकदम आग-बबूला हो गया; बोला, "अजीब अहमक हो, उस खूसट बुढ़िया से मेरा क्या वास्ता?"

बहुत मुश्किल से ही मैं उसे शांत कर सका।

यूँ मेनन का रुख़ स्पष्ट था और अचानक ही मेरे मस्तिष्क से ग़लतफ़हमी के बादल छितरा गये और मुझे रम्भा पर बेहद क्रोध आया—भला इस तरह मुझे मूर्ख बनाने की क्या ज़रूरत थी, यह बेहूदा माज़क उसने क्यों किया ? उस क्षण यदि वह मुझे दिख जाती तो मैं उसकी अच्छी दुर्गत करता। लेकिन वह उस दिन नहीं मिली।

दूसरे दिन मैं उसकी प्रतीक्षा करता हुआ तिलक-स्टेच्यू के सामने खड़ा था। उस समय भी मैं आवेश में था। रम्भा शायद भाँप गयी। शंकित-सी वह मेरी ओर बढ़ी, लेकिन मैंने कोई परवाह नहीं की। मैंने तेज़ आवाज़ में कहा, "कल मैं मेनन से मिला था।"

"हूँ!" उसका स्वर दयनीय था।

मैंने कहा, "तुम्हारे बारे में मैंने उससे बातें की थीं।"

"हूँ!" उसने उसी स्वर में कहा।

"जानना चाहती हो, उसने क्या कहा ?" मैंने तीखे स्वर में उससे पूछा और उसके चेहरे पर एक प्रश्नार्थक दृष्टि डाली।

रम्भा ने कोई उत्तर नहीं दिया। नीची नज़र किये वह एक बेजान बुत की तरह खड़ी रही। उसका चेहरा एकदम स्याह पड़ गया था। मैंने अपनी बात कहनी चाही लेकिन असली बात तो एकाएक कंठ में फँस गयी और फिर जैसे मैं नहीं, कोई और बोला, "रम्भा तुम मेनन के सपनों की रानी हो!"

बुत में मानो जान आ गयी, रम्भा के चेहरे पर रौनक लौट आयी। उसने मुझे इस तरह देखा कि मुझे लगा जैसे मैं जीवन में पहली बार सच बोला हूँ। वास्तव में उसी क्षण मुझे रम्भा की शिकायत समझ में आयी, उसे एक मेनन से ही नहीं, सारी दुनिया से शिकायत थी।

कठपुतली

चपरासी ने बूढ़े चौकीदार को कोहनी मारी—हुश ! बड़े साहब की कार आ रही है।

बीड़ी फेंककर दोनों सावधान हो गये।

चाकलेट रंग की शेवरलेट से श्रीनाथ उतरा और कँधे झटकारकर उसने अपने इर्द-गिर्द देखा। आफ़िस का बूढ़ा चौकीदार अपनी कमर को अधिक से अधिक सीधा कर उसे सैल्यूट कर रहा था, सामने सीढ़ियों के पास सरकारी वर्दी में कसा जवान चपरासी सलामी ठोंक रहा था, दायीं ओर कार का दरवाज़ा सँभाले शोफर सलाम कर रहा था। जापानी पुतलों की तरह खड़े उन हुक्म के गुलामों के बीच बड़ा साहब मानो सर्कस का रिंगमास्टर हो, वह ख़ुद को इस समय किसी बादशाह से कम महसूस न कर रहा था।

यह रौब भी कितना प्रभावशाली विटामिन है ! नाटे क़द का श्रीनाथ इसी के असर से इतना फूल गया है कि उसके बदन की चौड़ाई उसके क़द की ऊँचाई से शायद ही कुछ कम हो, बिल्कुल वर्गाकार दिखने लगा है वह। पहले जब वह स्कूल में नौकर था, तब ऐसा नहीं था—बिल्कुल सूखा, क्षय-रोग का मरीज़ दिखता था। लेकिन इन पाँच वर्षों में ही वह कितना बदल गया है ! न केवल शारीरिक गठन में, बल्कि आचार-विचार और चाल-ढाल में भी। पहले उसकी जिह्वा पर 'जी हाँ' के अलावा दूसरा शब्द न होता था, मगर अब तो उसकी ज़बान पर सदा हुक्म रहते हैं और कान 'जी हुज़ूर' के सिवा कोई दूसरा शब्द सुनना पसन्द नहीं करते। पहले वह शान-शौक़त को फ़िज़ूल-ख़र्ची मानता था, मगर अब ख़ुद शान से रहता है और चाहता है कि दूसरे भी ज़रा सफ़ाई से रहें। वह अपने क्लर्कों को इसी बात पर वार्निंग दे बैठता है कि उनके वस्त्रों से बदबू आती है।

नयी स्टेनो मिस राय श्रीनाथ के कमरे में आते ही अपनी जगह पर खड़ी हो गयी और साहब के आदेश की प्रतीक्षा करने लगी। श्रीनाथ ने उच-टती-सी निगाह मिस राय के गदराये हुए शरीर पर डाली। मगर...

श्रीनाथ का ध्यान कमरे के दरवाज़े की ओर खिंच गया। मिलने वालों की भीड़ बहुत शोर कर रही थी।

सौ-पचास लोग उसके दरवाज़े पर सदा ही डटे रहते थे। इन मिलने वालों को देखकर श्रीनाथ को प्रसन्नता होती थी, उसका अहम् तुष्ट होता था, लेकिन अपने व्यवहार से वह यही जाहिर करता कि उसे इनसे परेशानी होती है। अपनी प्रतिष्ठा और महानता व्यक्त करने का यह भी एक बढ़िया नुस्खा है।

श्रीनाथ ने चपरासी को आदेश दिया कि बाहर बैठे लोगों को तीन बजे आने के लिए कहे।

मिस राय अभी खड़ी थी।

उसके होठों के रंग को देखकर श्रीनाथ ने सोचा, स्टेनो के चुनाव में उसने ग़लती नहीं की है। उसके चेहरे पर से अब रौब का तनाव कम हो गया था और मुस्कान की एक हल्की परत चढ़ गयी थी।

पाइप सुलगाते हुए वह बोला, "बैठिए! आइए यहाँ इस कुर्सी पर बैठिए।"

सहमती हुई मिस राय श्रीनाथ के सामने कुर्सी पर बैठ गयी।

स्टेनो पर दृष्टि गड़ाते हुए श्रीनाथ बोला—"आप, आप···आपकी यह साड़ी···"

"जी?"

"आपकी साड़ी बहुत मामूली है। आप अच्छे कपड़े क्यों नहीं पहनतीं?"

"बी० ए० करने के बाद मैं एक साल बेकार थी।"

"मैं यह पसन्द नहीं करता कि मेरे मातहत···और आप तो मेरी पी० ए०[1] हैं"—कहते हुए वह मिस राय की ओर जाने कैसी नज़र से देखने लगा।

मिस राय के माथे पर पसीने की बूँदें झलक आयीं, उसने बेहद घबराकर सिर झुका लिया। यह उसकी पहली नौकरी थी, और वह 'बॉस' के तौर-तरीके से परिचित नहीं थी। वह क्या करे? कहीं साहब नाराज़ हो गये तो······विधवा बीमार माँ···

चपरासी फ़ाइलों का एक गट्ठर रख गया। श्रीनाथ ने 'टॉप-प्रायरटी', 'अर्ली', 'इमिजिएट' वाले फ़्लैग देखे, मगर उस ओर कोई ध्यान न दिया। वह सोच रहा था, मिस राय कितनी मासूम है!

---

१. पर्सनल असिस्टेंट

वह बोला, "आप इतमीनान से तो बैठिए। इस तरह शरमाने से काम नहीं चलेगा। कम-से-कम मेरे सामने तो आप···आप मुँह लटकाकर बैठेंगी, तो वक़्त कैसे कटेगा ?···"

तभी एक झटके के साथ कमरे का दरवाज़ा खुला और एक दुबला-पतला युवक श्रीनाथ के सामने आ गया। वह शमशेर था। उसके बाल बिखरे हुए और अस्त-व्यस्त थे। इस समय वह बिल्कुल बदहवासी की हालत में था।

"क्या चाहते हो ?"—श्रीनाथ एक प्रकार से चीख़ा। उसे उसके इस तरह, बिना आज्ञा लिये, घुस जाने से बहुत क्रोध हो आया था।

भर्रायी आवाज़ में शमशेर बोला, "सर, मेरे साथ बहुत अन्याय हुआ है।"

"क्या अन्याय हुआ है ?" श्रीनाथ ने पूछा, गो उसे सारा वाक़या मालूम था, उस घटना का सूत्रधार तो वही था।

"मुझे अचानक बर्ख़ास्त कर दिया गया है, और मेरी जगह एक नये आदमी को रख लिया गया है।"

"तो मैं क्या कर सकता हूँ ? तुम्हारा काम सन्तोषप्रद न था।"

"मगर मुझे तो आज तक कोई चेतावनी नहीं दी गयी है और मेरे 'केरेक्टर रौल' में वैसा कोई रिमार्क नहीं है। आप ख़ुद मेरे काम को जानते हैं, आपने दो-एक बार मेरी तारीफ़ भी की है···"

"हो सकता है।···पर मैं समझता था कि तुम काम सीख जाओगे। प्रोत्साहित करने के ख़याल से ही मैंने तुम्हें दो-एक बार बढ़ावा दिया था, मगर तुम सँभल न सके···"

"लेकिन सर, मैं बहुत मुसीबत में पड़ जाऊँगा। मेरे तीन-तीन बच्चे हैं, बूढ़ी माँ है···"

"तो हम क्या कर सकते हैं ? सरकारी काम में ढील नहीं दी जा सकती। तुम कोई दूसरा काम ढूँढ़ लो। जाओ।" और श्रीनाथ ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

शमशेर कुछ क्षणों तक किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा, जैसे कुछ फ़ैसला कर रहा हो। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर एक कठोर भाव आता गया। उसने तीखी आवाज़ में पूछा—"क्या आप मेरी कुछ भी मदद नहीं कर सकते ? आप चाहें···तो···"

"नहीं।"

"ज़रा सोच लीजिए। मेरी स्थिति में पड़ा आदमी···"

"क्या मतलब ?" चिहुँककर श्रीनाथ बोला।

"आप अर्थ लगा सकते हैं", कहकर वह कमरे के बाहर निकल गया।

श्रीनाथ ने शमशेर को जाते हुए देखा। उसे उसकी दुबली-पतली आकृति काफ़ी दृढ़ प्रतीत हुई। वह आज तक कई मातहतों का भविष्य बिगाड़ चुका था। उसने ख़ूब अन्याय किया था और जान-बूझकर किया था, मगर कभी ऐसा मौक़ा नहीं आया था कि किसी ने इस दृढ़ता से उसके अन्याय का विरोध किया हो, किसी ने धमकाया हो। मगर यह शमशेर···

मिस राय 'डिक्टेशन' की प्रतीक्षा कर रही थी। चपरासी फ़ाइलों का गट्ठर रखता जा रहा था। मगर श्रीनाथ कोई काम न कर पा रहा था। शम-शेर की वह बात, वह मुद्रा···वह क्या करेगा ? आत्महत्या या···मेरा वह क्या बिगाड़ सकता है ?

अपने मातहतों की बातों पर उसने कभी इतना ध्यान नहीं दिया था। हो सकता है, शमशेर कुछ भी न करे, और श्रीनाथ जानता था, शमशेर कुछ भी न कर सकेगा, उसकी शक्ति के सामने शमशेर का सामर्थ्य ही क्या है ?

मगर उसकी वह चुनौती ? श्रीनाथ आदी था घिघियाती आवाज़ों का, रोती सूरतें देखने का। ऐसे मौक़े पर लोग नाक रगड़ते हैं, और लटका सा मुँह लिये लौट जाते हैं। मगर यह शमशेर···इसने वैसा नहीं किया। उसका व्यवहार भिन्न था। वह बतला गया था कि उसकी धमनियों में भी ख़ून है, पानी नहीं। श्रीनाथ को यही खटक रहा था। शमशेर यदि हाथ-पाँव जोड़ता, मिन्नतें करता, घिघियाता, तो सम्भव था वह उस पर दया भी कर देता, उसे किसी अन्य स्थान पर 'चिपका' देता। मगर शमशेर झुका नहीं। उसने उसे अपनी सहृदयता दिखलाने का मौक़ा भी न दिया। एक क्लर्क में इतना गुस्सा, इतना आत्म-सम्मान !···उसे महसूस हो रहा था, जैसे कुछ अनहोनी होने वाली है।

श्रीनाथ वैसे शमशेर के काम का क़ायल था, उसकी सूझ-बूझ का प्रशंसक था, उसके प्रति उसे सहानुभूति थी। उसने उसे अपनी इच्छा से बर्ख़ास्त नहीं किया था, उसने किसी को भी अपनी इच्छा से बर्ख़ास्त नहीं किया था। उसे इस समय सचमुच अफ़सोस हो रहा था। उसने यह अन्याय किया था, वह जानता था। और यही विचार उसे उद्वेलित कर रहा था, कि जाने शमशेर···

चाचा जागेश्वरनाथ की कृपा से ही तो वह इतने ऊँचे ओहदे पर बैठा था। देश स्वतन्त्र हुआ और संयोग से श्रीनाथ का चाचा जागेश्वरनाथ राज्य का मन्त्री हो गया था। चाचा राज्य का भाग्य-विधाता हो और उसका भतीजा एक मामूली शिक्षक बना रहे, यह क्या उचित दिखता ? इसमें चाचा की हेठी थी ; चाचा जिस पद पर था, उसकी हेठी थी ; चाचा के खान-दान की, क़ाबलियत की हेठी थी। तो जैसे ही एक नया महकमा खुला, उसमें एक उच्चाधिकारी के पद पर श्रीनाथ की नियुक्ति हो गयी। चाचा की कृपा से वह और भी आगे बढ़ सकता था। इसलिए वह चाचा की हर आज्ञा मानता था, हर आज्ञा माननी पड़ती थी। चाचा ने आख़िर किसलिए उसे उस पद पर बिठाया था ? अपना आदमी आख़िर होता किस लिए है ?

श्रीनाथ ने शमशेर को बर्ख़ास्त कर चाचा की सिफ़ारिशी चिट्ठी लेकर आये उनके किसी सहायक के सम्बन्धी को तैनात कर दिया था। ऐसा काम करते समय कभी-कभी उसकी आत्मा धिक्कारती थी, मगर वह कर ही क्या सकता था ? धीरे-धीरे यह भावना भी उसके अन्दर मर गयी। अब वह इसके बारे में सोचता तक नहीं।

लेकिन शमशेर ?···क्या करेगा वह ?···

आज एक मामला और आ खड़ा हुआ है।

इन अख़बार वालों को न जाने कहाँ से हवा लग जाती है। एक संस्था को चार लाख रुपये अनुदान दिया गया था। वह संस्था बोगस थी। श्रीनाथ भी जानता था। मगर उस संस्था के अध्यक्ष और सर्वेसर्वा जागेश्वरनाथ थे। अनुदान की रक़म उन्हीं की जेब में गयी होगी। अख़बार वाले ने इसी बात का भंडाफोड़ किया था।

अख़बार की वह 'कटिंग' फ़ाइल में आयी थी। खंडन करना आवश्यक था। मामला गम्भीर रूप भी ले सकता था। विधान-सभा में प्रश्न उठाया जा सकता था। विरोधी-दल शोर-गुल मचा सकता था। असली संस्था के पदाधिकारी दावा कर सकते थे। प्रजातन्त्र है। जनमत को संतुलित रखना आवश्यक है, बिगड़ गया तो···तो चाचा का तख़्ता पलट सकता था। श्रीनाथ का भविष्य अन्धकारमय हो सकता था।

श्रीनाथ ने सोचा, किसी तरह अख़बार का मुँह बन्द करना होगा।

उसने अख़बार के दफ़्तर को फ़ोन किया।

दूसरी ओर फ़ोन पर सम्पादक आये; बोले, "कहिए। आप कौन हैं?"

"जी, मैं श्रीनाथ हूँ, डायरेक्टर···महकमा···"

"फ़रमाइए।"

"आज आप थोड़ा वक़्त निकालकर मुझसे मिलने का कष्ट कीजिए।"

"आज तो शायद···"

"एडवरटिज़मेंट के बारे में बात करनी है।"

"अच्छा तो कोशिश करूँगा।"

तीर निशाने पर लगा था। उसने कहा, "कोशिश नहीं, अवश्य आइएगा। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।"

"अच्छा, आऊँगा।"

"बहुत-बहुत धन्यवाद!"

श्रीनाथ की एक चिंता कम हुई। उसे विश्वास था कि वह संपादक महोदय को उस ख़बर का खण्डन छापने के लिए तैयार कर लेगा। पत्रकारों की क़लम पेट से बँधी है, और पेट बँधा है मालिकों से और मालिकों को ख़रीदने का गुर वह जानता था।

घड़ी ने तीन के घन्टे ठोंके।

दरवाज़े पर मिलने वालों का शोर-गुल होने लगा। चपरासी उनके परिचय-पत्र मेज़ पर रखने जा रहा था। परिचय-पत्रों का एक बड़ा-सा ढेर वहाँ इकट्ठा हो गया था। श्रीनाथ ने उचटती-सी निगाह उन परिचय-पत्रों पर डाली और उन्हें एक ओर सरकाकर उठ बैठा।

मिस राय आदेश की प्रतीक्षा कर रही थी। वह बोला, "चलिए, बँगले पर ही काम निबटाएँगे। यहाँ तो कुछ होना मुश्किल है।"

और मिस राय सहमी हुई उसके साथ चल दी।

ऑफ़िस से निकलते ही श्रीनाथ सारे झंझटों को भूल गया। उसकी ऐसी आदत ही हो गयी थी।

उस शाम मिस राय उसके साथ रही। मिस राय सचमुच ही बहुत सुन्दर, बहुत समझदार है। कम-से-कम उस शाम श्रीनाथ ने उसके बार में यही सोचा। उसके शरीर में उसने ताज़े फूल की सुगन्ध महसूस की। वह

सुगन्ध उसके मस्तिष्क के कोने-कोने में छा गयी थी। मिस राय थोड़ी शर्मीली अवश्य है जैसी कि हर जवान लड़की होती है। मगर श्रीनाथ को उसकी वही शर्म, वही झिझक भा गयी थी। उसने उसे साड़ी के लिए रुपये दिये, उसकी माँ के इलाज के लिए भी कुछ रुपये दिये।···मगर इसका उसे कोई अफ़सोस न था। ताज़े फूल की यह सुगन्ध···वह जानता था, पैसा तो बंसी है, जिससे मछली फाँसी जाती है।···वह प्रसन्न था।

उस रात को वह सब कुछ भूलकर बहुत निश्चिन्त होकर सोया।

अख़बार के मालिक महोदय उससे मिलने आये थे। वह वादा कर गये थे कि समाचार का खण्डन छाप दिया जाएगा और भविष्य में वैसी कोई ख़बर नहीं जाएगी···यदि छापी जाएगी, तो पहले उससे पूछ लिया जाएगा।

उसने सम्पादक महोदय को विज्ञापन देने का आश्वासन दे दिया था।

आधी रात बीत चुकी थी।

श्रीनाथ मिस राय के सपने देख रहा था।

अचानक खटका हुआ, शायद कोई कमरे में घुस आया था।

श्रीनाथ की नींद उचटी। उसके बिस्तर के पास ही कोई खड़ा था। वह सहम गया।

"कौन हो तुम ?"

"नहीं पहचानते ?"

"तो तुम शमशेर हो।"—और शमशेर के हाथ में नंगा छुरा देखकर वह काँप गया, उसका अंग-अंग काँप गया, उसकी आवाज़ काँप गयी।

"तुम क्या चाहते हो ?"

"तुम्हारा ख़ून।"

"मेरा ख़ून। लेकिन क्यों ?···मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?··· ईश्वर के लिए···"

"अब ईश्वर याद आता है।" और शमशेर का हाथ दृढ़ हो गया।

"जानते हो तुम क्या कर रहे हो ? तुम्हें फाँसी होगी।"

"मुझे फाँसी की सज़ा पहले ही मिल चुकी है। टिकटी पर चढ़ने के पहले मैं तुम्हें ख़त्म कर देना चाहता हूँ, ताकि मेरी तरह तुम्हारे अन्याय के कारण किसी और के बच्चे भी न तड़पें।···"

"मगर तुम मुझे क्यों मारना चाहते हो, मैंने वह अन्याय नहीं किया है। मैं क्या कर सकता हूँ ? मेरे सामने कोई चारा नहीं।"

"कोई चारा नहीं ?...यह क्या कहते हो ? झूठ मत बोलो। जाने तुमने कितनों के मुँह की रोटी छीनी है। आज..."

"मैं झूठ नहीं कहता। मुझे मार देने से तुम्हारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा। मेरी जगह पर जो आएगा, वह भी वही सब करेगा जो मैं करने को विवश हूँ। मैं विवश हूँ, मैं किसी के हाथों की कठपुतली हूँ, शमशेर ! तुम छुरा हटाकर मेरी पूरी बात सुन लो।"

"तुम्हारा कोई विश्वास नहीं।"

"मैं मास्टर रह चुका हूँ, शमशेर। मुझे समाज का अब भी कुछ अहसास है। मैं सच कह रहा हूँ।"

"तुम पर विश्वास करूँ ?"

"यह कैसे कहूँ ? आज मैं बहुत बदल गया हूँ। मैं बहुत झूठ बोलता हूँ, लोगों को धोखा देता हूँ। फिर भी इस वक्त जो कह रहा हूँ, उसे सच समझो।...मैं, 'मैं' नहीं हूँ। मेरा पद 'मेरा पद' नहीं है। मेरे हाथ 'मेरे हाथ' नहीं हैं। मेरी आत्मा चाचाजी के हाथों बिक चुकी है। उन्हें तुम जानते होगे, जागेश्वरनाथजी को...उन्हीं की कृपा से मुझे यह पद मिला है। उन्हीं के आदेश के अनुसार मुझे एक आदमी को निकालकर, उसकी जगह उनके आदमी को देनी थी। संयोग से इस षड्यन्त्र के शिकार तुम हुए। इसमें मेरा क्या दोष है, तुम समझो। मैं नीच हूँ, कायर हूँ। मुझमें इतना साहस नहीं कि वह ज़लील ज़िन्दगी...मैं क्या करूँ ? तुम्हीं बताओ, शमशेर ! तुम कुछ नहीं, तो बहादुर तो हो, अन्याय को सिर झुकाकर...नहीं, तुम्हें पश्चाताप करने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम अपना सिर मत झुकाओ।"

"मुझे क्षमा कर दीजिए, सर ! मुझे क्या मालूम था..."

शमशेर लौट गया। जब तक वह बँगले से बाहर न हो गया, श्रीनाथ उसे देखता रहा। उसकी आँखों में आँसू चमक रहे थे। वह सोच रहा था, दुनिया में कैसे-कैसे इन्सान पड़े हैं। एक शमशेर है, एक मैं हूँ।...शेर की तरह खूँख़ार, लेकिन मेमने की तरह मासूम। क्या मैं उसके लिए कुछ नहीं कर सकता ?

गूँगा तर्क

क़ाफी का घूँट हलक़ से नीचे उतारते ही वह सुकराती अंदाज़ में बोला, "मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि आत्म-केन्द्रित व्यक्ति की मानसिक शांति कैसी भी परिस्थितियों में नष्ट नहीं होती।" अपने कथन पर उसे पूरा विश्वास था और उसकी आँखों में एक चमक उभर आई थी कि बोलो, है न पते की बात !

वह तर्क के लिए उत्सुक था, किन्तु मैंने भिन्न ही रुख़ में कहा, "सिद्धान्ततः यह बात ठीक हो सकती है, लेकिन मेरा एक अनुभव विचित्र है।" वह एकाएक समझ नहीं सका कि मैं किस पक्ष में हूँ, तथापि मेरा अनुभव सुनने के लिए वह तत्पर हो गया।

मैंने कहा—दुर्घटनाओं में मेरा ख़याल है, मनुष्य के व्यक्तित्व के अज्ञात पहलू उजागर होकर सामने आते हैं। उस रात मैं कलकत्ता-बम्बई मेल से यात्रा कर रहा था। गाड़ी नागपुर से छूटी थी। वक़्त अधिक नहीं हुआ था, यही दस बजा होगा। मगर दिसम्बर की सरदी की रात और यात्रा की थकान।

……कम्पार्टमेंट की खिड़कियों को बन्द कर, बत्तियाँ बुझाकर यात्री सो गए थे। अचानक किसी ने मुझे झकझोरा और आवाज़ भी दी।

वह एक सहयात्री थी—रानी बेन, जो बुरी तरह घबड़ाई हुई थी।

'स्लीपिंग बर्थ' से नीचे कूदते हुए मैंने पूछा, "क्या बात है, बेन ?"

"देखिए तो कैसी भयानक आवाज़ें आ रही हैं, क्या आप नहीं सुन रहे ?"

अब तक कम्पार्टमेंट के दूसरे यात्री भी जाग गए थे और अजीब परेशानी में पड़े एक-दूसरे को घूर रहे थे।

उस ओर 'सीटिंग बर्थ' पर लेटे स्थूलकाय गोसाईंजी ने अपने दोहरे कम्बल में से सिर निकालते हुए झल्लाई हुई, बेसुरी आवाज़ में कहा, "क्या ख़ामख़ाँ शोरगुल मचा रखा है, महाशयो ! सो जाइए। कोई गा-गुनगुना रहा होगा।"

आवाज़ें प्रतिक्षण तेज़ होती जा रही थीं और हम पसोपेश में पड़े थे, लेकिन रानी बेन धैर्य न रख सकीं। वह ज़ंजीर से लटक गईं। मिनट-भर बाद गाड़ी रुकी। गोसाईं ने व्यंगात्मक लहजे में कहा, "श्रीमतीजी, अब ज़ुर्माना चुकाने के लिए भी तैयार हो जाइए!"

रानी बेन ने गोसाईं के व्यंग को अनसुना कर तेज़ी से कम्पार्टमेंट का दरवाज़ा खोला और बाहर झाँकते ही वह चिल्लाई, "आग!"

लोग उस ओर दौड़े। मैंने मिस्टर गोसाईं से कहा, "आइए, देखें क्या बात है?"

गोसाईंजी के चेहरे पर विद्रूप की हल्की परत फैल गयी। वह बोले, "ओह, मैं समझ सकता हूँ, क्या बात होगी? आप भी बैठिए, मैं आपको एक दिलचस्प वाक़या सुनाता हूँ। एक बार की बात है..."

लेकिन वह दिलचस्प वाक़या सुनने के लिए मैं वहाँ ठहर न सका। रानी बेन अपना 'वाटर पॉट' लिये कम्पार्टमेंट से उतर रही थीं। तार में फँसकर वह गिरते-गिरते बचीं।

रानी बेन को सहारा देता हुआ जब मैं उस दुर्घटना-ग्रस्त कम्पार्टमेंट की ओर आया तो उस दृश्य को देखकर एकबारगी काँप गया। द्वितीय श्रेणी के एक लेडीज़ कम्पार्टमेंट में आग लगी थी, जिसमें लगभग दर्जन-भर शिक्षित एवं समझदार महिलाएँ यात्रा कर रही थीं। भय के कारण वे महिलाएँ अपने होश-हवास खो बैठी थीं और आत्मरक्षा के लिए निरर्थक प्रयत्न करती हुई भौंडे ढंग से हाथ-पैर फेंक रही थीं। भय के अतिरेक में उनका विवेक परास्त हो गया था और गाड़ी रोकने के लिए उन्होंने स्वयं ही ज़ंजीर खींचने की चेष्टा नहीं की थी।

कम्पार्टमेंट में चारों ओर से आग की लपटें उठ रही थीं और उन लपटों के बीच प्रेतात्माओं की तरह वे औरतें एक-दूसरे से सटती हुई गला फाड़कर चीत्कार रही थीं, "बचाओ! बचाओ!" लपटें कुछ और तेज़ हुईं तो दो-एक औरतें झुलसकर धराशायीं हो गयीं।

एक पारसी युवती, जो काफ़ी स्थूल व भारी-भरकम थी, खिड़की से लटककर हाथ-पैर फेंक रही थी। सहयात्री बिहारी युवक ने उस पारसी युवती को कम्पार्टमेंट से बाहर खींचने की चेष्टा की तो उस युवती ने प्रसाद के गले में अपनी बाँहें डाल दीं, लेकिन नीचे गिरने के डर से उसने अपना शरीर खिड़की से बाहर नहीं फेंका।

एक वृद्ध महाशय ने औरतों को फिर धमकाया, "अरी, अक्ल की दुश्मनो! फ़ौरन दरवाज़ा खोल दो, वरना तुम सब वहीं भुन जाओगी।"

दो-एक महिलाएँ साहस करके दरवाज़े की ओर बढ़ीं भी, लेकिन दरवाज़े को एकाधिक धक्के मारकर रह गईं।

लपटें हर क्षण उग्र होती जा रही थीं और हम सब हत्-बुद्धि से खड़े थे। लगता था, सारी औरतें यूँ ही ज़िन्दा जल जावेंगी और हम कुछ भी न कर सकेंगे।

पीछे से भाड़ को चीरता हुआ अचानक एक व्यक्ति तीर की तरह दरवाज़े की ओर लपका। उसने दरवाज़े की खिड़की पर चढ़े काँच को घूँसा मारकर फोड़ दिया। यह सब विद्युत-गति से हुआ। उसने दरवाज़े के ऊपरी हिस्से में लगी चिटखनी को, जिसे कम्पार्टमेंट की औरतें शायद अब तक न देख पाई थीं, हाथ डालकर खोल दिया।

दरवाज़ा खुल गया और कम्पार्टमेंट में बन्द असहाय कुछ औरतें हड़-बड़ाकर बाहर आ गिरीं।

हम कम्पार्टमेंट में पड़ी अशक्त और मूर्च्छित औरतों को उठाकर बाहर लाने में लग गए। वहाँ पड़ी औरतों की बड़ी बुरी दशा थी। उनके वस्त्र प्रायः जल गए थे और शरीर की चमड़ी भी झुलसकर काली पड़ गई थी। उनमें से कुछ औरतों की मांस-पेशियाँ भी भुन गई थीं। मानवी सुन्दर आकृतियों का कैसा बीभत्स घिनौना स्वरूप था वह!

एक औरत, जो शायद नर्स थी, बुरी तरह कराह रही थी। उसकी छाती जल गई थी और मांस लटक आया था, लाल-काला मांस का वह लोथड़ा! उफ़! उसकी गोद में दो-ढाई साल का एक बच्चा था, जिसका चेहरा जलकर विकृत हो गया था, नाक का मांस लटककर सामने आ गया था। वह हाथ-पैर पटककर बुरी तरह चीख रहा था।

रेलवे के कर्मचारी—ड्रायवर, गार्ड, फायरमैन आदि घटना-स्थल पर आ गए थे और आग को रोकने के लिए पूरी चेष्टा कर रहे थे। आहत औरतों को हमारे कम्पार्टमेंट में लाया गया।

मिस्टर गोसाईं ने आहत औरतों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ी और ताकीद दी, "इनको ज़रा परे ही रखिए।"

वातावरण में एक अजीब-सी गम्भीरता थी और हम लोग मशीन की भाँति आहत व्यक्तियों की सहायता के लिए हर सम्भव प्रयत्न कर रहे थे।

रानी बेन की सफ़ेद साड़ी एकदम काली पड़ गयी थी और प्रसाद का क़ीमती सूट जहाँ-तहाँ जल गया था।

आग पर नियंत्रण पाते तक वह जला हुआ कम्पार्टमेंट एक मनहूस ढांचा मात्र रह गया। कुछ देर बाद हम अपने कम्पार्टमेंट में इस तरह लौटे, मानो शव फूँककर लौटे हों।

ज़रा-सी लापरवाही और इतनी बड़ी दुर्घटना !··· सबके मस्तिष्क में एक यही ख़याल उस समय था। नर्स ने बच्चे के लिए दूध गर्म करने की दृष्टि से स्टोव सुलगाया था। न जाने कैसे उसके वस्त्रों ने आग पकड़ ली। मूढ़ औरत ! वस्त्रों की आग बुझाने से तो रही, स्टोव भी बुझाया न गया।

कम्पार्टमेंट में अब साँस लेना कठिन हो रहा था, लेकिन मिस्टर गोसाईं थे, जो अभी भी पूरी बर्थ पर पैर फैलाए लेटे थे।

उस पारसी युवती को 'स्कर्ट' की वजह से फ़र्श पर बैठने में कठिनाई हो रही थी। प्रसाद ने गोसाईं से कहा, "आप ज़रा सिमट जाइए तो वो मिस साहिबा भी···।'

मिस्टर गोसाईं ने अवज्ञा से मुँह फेर लिया। प्रसाद हाथापाई पर उतर आया। स्पष्ट था कि एक झगड़ा खड़ा होता, लेकिन गार्ड कम्पार्टमेंट में चढ़ आया और उसने परिस्थिति सँभाल ली। गोसाईंजी ने बर्थ पर दूसरे यात्रियों के बैठने के लिए जगह छोड़ दी, तथापि आहत औरतों को आश्रय देना स्वीकार नहीं किया।

मेल अब फिर चलने लगी थी। गाड़ी की छुकछुक और आहत औरतों को चीख़-चीत्कार के बीच गोसाईंजी के क़हक़हे वीरानगी की साँय-साँय में मानो प्रेत के अट्टहास थे। ऐसी दर्दनाक दुर्घटना के बाद एक वही थे, जो दुर्घटना की बीभत्सता से अप्रभावित जान पड़ते थे। आत्म-केन्द्रित व्यक्ति ही शायद ऐसा हो सकता है, निरपेक्ष और निर्मोही ! वह कोई सरकारी मुलाज़िम थे और सरकारी प्रवास से लौट रहे थे। अपने सामने बैठे एक सहयात्री से (वह भी कोई सरकारी कर्मचारी ही था) गोसाईंजी ने कहा, "मैं कहता हूँ, ऐसे मूढ़ यात्रियों को सख़्त सज़ा मिलनी चाहिए, जो सामान्य सावधानी भी नहीं बरत सकते, जो···" वह एक वकील की भाँति विशेष भावावेश में बोल रहे थे और उनको इस बात का कतई ख़याल नहीं था कि उनके शब्द किसी पीड़ित आत्मा को दुःख भी पहुँचा सकते हैं।

ट्रेन-कन्ट्रोलर आहत व्यक्तियों की सूची तैयार कर रहा था। पारसी युवती के करीब आकर उसने पूछा, "आपका नाम, श्रीमती ?"

"आप तमीज़ से बात कीजिए।" वह पारसी युवती एकाएक बौखला उठी।

ट्रेन-कन्ट्रोलर हक्का-बक्का रह गया, निश्चय ही उसे अपनी बदतमीज़ी समझ में न आई थी।

"श्रीमती नहीं, मैं कुमारी हूँ—मिस जुबेदा !"

ट्रेन-कन्ट्रोलर आगे बढ़कर अन्य आहत व्यक्तियों के नाम-पते नोट कर रहा था। वह उस कोने की ओर बढ़ा जहाँ एक दुबली-पतली किशोरी अर्द्धविक्षिप्तावस्था में पड़ी थी। उस किशोरी ने बहुत धीमी आवाज़ में अपना नाम बताया। जिसे कम्पार्टमेन्ट के उस शोरगुल के बीच विरला ही कोई सुन सका होगा, लेकिन गोसाईंजी उछल पड़े।

उस किशोरी के चेहरे को घूरते हुए गोसाईंजी चीखे, "अरे नीता तू ?"

हम एकाएक कुछ समझ न सके, लेकिन बाद में मालूम हुआ नीता गोसाईंजी की पुत्री थी जो उनके अनजाने में उसी ट्रेन से यात्रा कर रही थी। शायद वह बड़े दिन की छुट्टियों में मामा के घर गई थी।

नीता की सलवार और कुरता जल गए थे और उसका चेहरा झुलस-कर अत्यन्त कुरूप हो गया था। मिस्टर गोसाईं ने 'होल्डॉल' से कंबल व चादर निकाली और नीता को ढँक दिया। उनकी आँखों में उस समय शून्यता उभर आई थी और वह बेज़बान हो गए थे। क्षणभर वह अपनी बेटी के झुलसे, कुरूप विषाद-युक्त चेहरे को पथराई दृष्टि से देखते रहे और फिर एका-एक तेज़ी से लौटे, शायद उन्हें कोई बात याद हो आई थी।

वह ट्रंक खोलकर कोई चीज़ ढूंढने लगे, जल्दी में वह ट्रंक का सामान इधर-उधर फेंकने लगे। आख़िर वह सफल हुए। उनके हाथ में एक शीशी थी, 'बरनॉल'। उसे लेकर वह आगे बढ़े और नीता के पास न रुक-कर वह उस बच्चे के क़रीब पहुँचे जिसकी नाक का मांस लटक आया था और जो नर्स की गोद में पड़ा बेहद छटपटा रहा था। उन्होंने उस बच्चे पर 'बरनॉल' उँड़ेल दी।

हम एकाएक कुछ समझ न सके। अभी थोड़ी देर पहले तक गोसाईंजी का हृदय चट्टान की तरह कठोर बना हुआ था, अब उसमें संवेदना का

अंकुर कैसे फूट पड़ा ! किन्तु गोसाईंजी के मन में एक साथ उठ रही हजार-हजार लपटें उन्हें अन्दर-ही-अन्दर जैसे झुलसाये दे रही थीं । उनकी आत्मा उन्हें कचोट रही थी । साथ ही, उनके चेहरे पर संतुष्टि की गहरी लकीरें उभरती दिखायी दे रही थीं । आज उन्होंने कुछ खोया और कुछ पाया था ।

—मैंने बात पूरी की, तो शरण एकाएक कुछ कह न सका । यूँ वातावरण में जो तनाव उपस्थित हो गया था, उसे दूर करने के लिए मैं हँसा और बोला, "ख़ुदा बचाए इन इत्तफ़ाकों से !"

लेकिन शरण की आँखों में गम्भीरता के जो स्याह बादल उभर आए थे, वे अब छँट न सके । वह हँस न सका । त्रिवेक के कठघरे में खड़ा तर्क यूँ तथ्य के सामने मानो गूँगा था ।

बने-बिगड़े रिकार्ड

"का कहा, भइया नहीं रहे ? हाय दई, जो तो बड़ा बुरा हुआ !" इतना कह न पातीं और वह बिसूरने लगतीं, "चलो-चलो, अपन बढ़ो, हम अभी आत हैं।" और उन्हें लेने आने वाला व्यक्ति अभी दस क़दम बढ़ने नहीं पाता कि पीछे से लपककर आती हुई पीपल दादी उसे जा पकड़तीं। उस वक्त उनका चेहरा-मोहरा, चाल-ढाल, रूप-रंग देखते ही बनता, लगता जैसे दादी की माँग का सिन्दूर अभी-अभी ही पुछा है ! बिसूरती जातीं और बड़बड़ाती जातीं, "का उमर थी उनकी ? अस्सी से कम ही हुइ हैं। इतनी कम उमर में चले गये ? राम, कैसा ज़माना आ गया है। जुवान-जुवान लोग उठे जा रहे हैं धरती से ! हे प्रभो…"

ऐसे मौक़ों के लिए पीपल दादी के पास न केवल एक रटी-रटाई भाषा थी, बल्कि एक ख़ास पोशाक भी, काली साड़ी ! उस काली साड़ी में लिपटी, दुख और ग़म की रटी-रटाई वचनावली अलापतीं पीपल दादी उस क्षण ठीक वैसी ही लगतीं, जैसे मातम के मौक़े पर बजता कोई फ़िल्मी रिकार्ड ! पीपल दादी एक सजीव रिकार्ड थीं, इसलिए जाने कितनी बार बज चुकने के बाद भी अभी तक वैसी ही बजती थीं जैसे कोई नया रिकार्ड ! यह रिकार्ड अभी भी घिसा-घुरा नहीं था।

वास्तव में नगर की इस घनी बस्ती महाजन टोले के लिए पीपल दादी एक निहायत उपयोगी वस्तु थीं। सजीव पीपल दादी को वस्तु कहना ज़रा बेतुका ज़रूर है, लेकिन यह एक तथ्य ही है कि मोहल्ले के धनी-मानी लोगों की दृष्टि में वे एक उपयोगी वस्तु ही थीं—उतनी ही उपयोगी, जितनी शुभ अवसरों पर शहनाई होती है ! इस मुहल्ले में प्रायः सेठ-साहूकार लोग रहते हैं, जो अपने कारोबार में सदा इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें मरने तक की फ़ुर्सत नहीं ! फिर, यह दूसरी बात है कि दुष्ट यमराज किसी के समय-असमय का ख़याल करे बिना आ धमके और अपने साथ घसीट ले जाय। ऐसे वज्र-पात का अवसर जाने कितनी मुसीबतें खड़ी कर देता है ! उन परिवारों के

लिए तो एक नई मुसीबत यह भी होती कि मातम कैसे मनाएँ ? उन भरे-पूरे परिवारों की महिलाएँ तो ऐसे सुख-चैन में पली होतीं कि बेचारी बिसूरने लगतीं तो लगता, जैसे खिलखिला रही हैं ! इसके अलावा उनके साथ एक समस्या यह भी थी कि कहीं उन्होंने ज़्यादा रुदन-श्रम कर लिया, तो बिस्तरे से न लग जायें—फूलों की नरम सेज पर पली कोमलांगनाएँ जो ठहरीं ! फिर ऐसे मौक़ों पर चुप भी तो नहीं रहा जा सकता। लोकलाज का भय······चुप रहें तो ज़माना क्या कहेगा ?

यह तो उस मोहल्ले का भाग्य सराहिये, जो वहाँ पीपल दादी मौजूद थीं। ऐसे जा-बेजा मौक़ों के लिए पीपल दादी एक क़ीमती नियामत थीं। मातम की कला में बेहद प्रवीण, बेजोड़ ! जिस कोठी में शोक मनाने के लिए पहुँचतीं, वहाँ अपना गहरा रंग जमातीं ! दबी ज़बान में बहू-बेटी को संकेत कर देतीं, "बहू, यह नई साड़ी तो बदल लो !" अथवा घर के बेटों को समझातीं, "कुँवरजी, रेडियो पर यह लैला-मजनू का गाना क्या लगा रखा है, भजन बजने दो।" नौकर-चाकरों से कहतीं, "अरे निकम्मो, मुँह बाये क्या देख रहे हो ? तुम्हारे मालिक के घर पर इतना बड़ा कोप हुआ है और तुम चुप खड़े हो ? आँखों में हया-शरम बची है या नहीं ? आँसू न ढरते हों, तो छाती तो पीट सकते हो, 'हाय-तोबा' तो कर सकते हो। आओ······।" इस प्रकार देखते-देखते पीपल दादी घर की सारी व्यवस्था ठीक कर लेतीं और नौकरों-चाकरों, पड़ोसियों आदि से घिरकर जो रोना-झींकना शुरू करतीं, तो पहर-दोपहर बीत जाता और वे चुप होने का नाम न लेतीं। बीच में कोई यह सोचकर कि दादी अब थक गई होंगी, उन्हें रोकने का यत्न करता, तो दादी उसी पर बिगड़ पड़तीं, "अरे ! जाने वाला एक बार ही जाता है। अब उसके लिए फिर कब-कब रोना होगा ? बेचारे की आत्मा को शान्ति तो मिलेगी कि चलो, लोग उसके लिए इतना रो रहे हैं।" पीपल दादी का शायद यह विश्वास था कि जितना रोया जाय, मृत आत्मा को उतनी ही शान्ति मिलती है। इसके साथ ही उनके अवचेतन मस्तिष्क में शायद यह बात भी जम गयी थी कि ऐसे मौक़ों पर रोने में कोताही करना मृत आत्मा के साथ सबसे बड़ा पाप है ! शायद इसीलिए वे ऐसे मौक़ों पर पूरी ईमानदारी से रोती थीं, तन-मन से भीगकर रोती थीं···ऐसे रोती थीं जैसे कोई क्या रोयेगा ?

इसी वजह इस मोहल्ले में उनकी इतनी क़द्र थी और गुणी जन की भला क्यों न क़द्र हो ! बड़े-बड़े लखपति उन पर मेहरबान थे। कहीं आते-जाते

दादी को देख लेते, तो रुककर दादी का हाल-चाल पूछते, यदा-कदा उनके लिए सीधा भी भिजवा देते। वैसे, घर में रसोई पकाने की दादी को शायद ही कभी ज़रूरत पड़ती। जिस घर में शोक मनाने जातीं, वहाँ कम-से-कम तेरहवीं तक तो उनके भोजन-पानी की जुगत रहती ही और एक तेरहवीं पूरी हो नहीं पाती कि दादी का भाग्य कहिए या मरने वाले का दुर्भाग्य कि दादी को दूसरा बुलावा आ जाता। तब, दादी मन-ही-मन अत्यन्त पुलकित और गद्गद् होकर, लेकिन ऊपरी तौर पर दुगनी क्लान्त और दुखी नज़र आते हुए अपने पहले मेज़बान से बिदा लेतीं, "भइया अब मैं तो जाती हूँ, लेकिन तुम ज़रा धीरज रखना!" इस संवाद के बाद जैसे एक नाटक का पटाक्षेप होता, पीपल दादी इस अन्तिम संवाद को भी दोहराना कभी न भूलतीं। कभी दिमाग़ से उतर भी जाता, तो फ़ौरन याद आते ही उल्टे पैर आतीं और अपना अन्तिम संवाद कहकर ही शान्ति पातीं। उस क्षण वे इस बात पर भी विचार न करतीं कि मेज़बान ने तो पहले से ही उनकी सीख पर आचरण करना प्रारम्भ कर दिया है, अब उसे इस सीख की क्या ज़रूरत? दादी तो घूमती प्लेट पर चढ़ा रिकार्ड थीं—पूरा बजे बिना भला रिकार्ड कैसे चुप हो सकता था?

वैसे है यह अजीब बात कि इस घनी बस्ती में पीपल की कौन कहे, हलका-पतला गेंदे का पौधा तक नहीं, लेकिन पीपल दादी मौजूद थीं। लोग उनके नाम की इस विचित्रता से अब तक इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उनके लिए वह विचित्रता एक सामान्य बात हो गयी है! समय की तह अच्छी-ख़ासी हकीकतों को छिपा देती है, अन्यथा लोग-बाग पाँच-सात बरस में ही यह कैसे भूल जाते कि पीपल दादी कभी पीपल बहू थीं। जी हाँ, पीपल बहू, पीपलसिंह की घरवाली पीपल बहू! दादी की सास ने अपने इकलौते बेटे की बहू को बड़े दुलार और प्यार से पीपल बहुरिया कहकर पुकारा था, जिसे आम लोगों ने पीपल बहू कर लिया था। पाँच-सात बरस हुए, हैज़े से ग्रस्त होकर उस दिन पीपलसिंह ने जब दम तोड़ दी, तो पीपल बहू, पीपल दादी हो गयीं। उस दिन के बाद यदि कोई उन्हें पीपल बहू पुकारता तो दादी को जाने कैसा तो लगता। आहत स्वर में वे झिड़कतीं "काहे को मज़ाक करते हो भइया? जिसके नाम से बहू थी, अब वही नहीं रहा तो बहू कैसी?"

सास पहले ही मर चुकी थी। घरवाले के गुज़र जाने के बाद दादी बिल्कुल असहाय हो गईं। उस समय उनकी उम्र यही कोई पैंतीस-छत्तीस की थी। पीपल के लँगोटिया यार जम्मनसिंह ने मज़ाक से दो-एक बार इशारा किया, "भौजी, काहे को उमर बिगाड़ रही हो ? मेरा घर क्या पराया है ? आ जाओ तो मेरी झोंपड़ी भी रोशन हो जाय। हाय, कैसी कंचन-सी देह है।" पर दादी इस सहज मज़ाक से बिफर गईं; बोलीं, "देवर, तुम्हें तो ऐसा मज़ाक सोहता नहीं, गेंदा सुनेगा तो क्या सोचेगा ?"

बस यह गेंदालाल ही था पीपलसिंह की धरोहर, जिसे देखकर दादी की आँखें जुड़ा जातीं। कितने लाड़ और प्यार से पाल-पोसकर बड़ा किया था उन्होंने उसे ! अपने सुख-चैन के लिए क्या दादी उसका दिल गिरा देतीं ? गेंदा अठारह साल का होने को आया; लेकिन दादी के लिए वह अबोध बच्चा ही बना रहा। वे स्वयं बनी-मजूरी करतीं, लेकिन उसे नौकरी न करने देतीं। मगर गेंदालाल में पीपलसिंह का खून था। वैसा ही हठी, उद्दण्ड था वह ! एक दिन वह गया और फ़ौज में भरती हो गया।

ग्रामोफोन के रिकार्ड बिजली की आँच में सिकते हैं, मगर पीपल दादी दुखों की आँच में पकी थीं—पककर पत्थर हो गई थीं। कभी कोई गेंदा के बारे में पूछता, तो उसे तत्क्षण फटकार देतीं, "मुझसे उसके बारे में का पूछते हो ? मेरे लिए तो वह मरा-जैसा हो गया।" डाकिया गेंदा की चिट्ठी लाता, तो वे मुँह फेर लेतीं। पर डाकिया जब चला जाता, तो चिट्ठी उठा लेतीं और रात के एकान्त में चिमनी के पास बैठकर चिट्ठी की हिज्जे जोड़ने लगतीं। चिट्ठियों में गेंदा अपने सैर-सपाटे, काम-धाम के बारे में जाने क्या-क्या न लिखता ? दादी उसे बाँचतीं, खुश होतीं और रोतीं। हर रात वह उस चिट्ठी को लेकर बैठ जातीं और बाँचती रहतीं। मजमून एक ही होता, लेकिन दादी को जैसे उसमें नित-नया अर्थ मिलता। इधर तीन माह से दादी गेंदा की पिछली चिट्ठी को ही दोहरा रही थीं। चिट्ठी इतने बार पढ़ी जा चुकी थी कि मुड़-मुड़ाकर जर्जर हो गई थी और अब तो उसके अक्षर भी नहीं पढ़े जाते थे। पर इससे क्या ? दादी की आँखों में तो वह मज़मून साफ़ भर गया था—"माँ, अब तो लगता है जीना सार्थक हो गया, कितना बढ़िया देश है यह, जन्नत है जन्नत, दूर-दूर से लोग इसे देखने आते हैं। अपने बेटे का भाग्य सराह माँ, स्वर्ग में रह रहा है तेरा यह बेटा !"

ठीक दीपावली के दिन उस धनी बस्ती में यह ख़बर फैली कि सेठ झुनझुनवाला का हार्ट फेल हो गया। इस महत्त्वपूर्ण ख़बर के साथ ही दबी-दबी कई अफ़वाहें भी फैलीं कि सेठजी का हार्ट फेल इस वजह हुआ, उस वजह हुआ। वे उस समय महज़ तिरसठ वर्ष के थे और अभी उनका बैंक बैलेंस कुछ करोड़ ही था। अभी उन्हें न जाने कितना काम करना था। न जाने कितना बैंक-बैलेंस जोड़ना था! ख़ैर, यह बात छोड़िये। इस बीच एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि पीपल दादी कहीं दिख न रही थीं। सेठ झुनझुन-वाले के नौकर-चाकरों और मुनीमों की परेशानी का क्या पूछना? पीपल दादी की खोज में मोटरें दौड़ने लगीं। आख़िर पीपल दादी दूर एक मोहल्ले की सड़क पर बड़े मुनीमजी को दिख गईं। उन्हें देखते ही मुनीमजी चिल्लाये, "वाह दादी, आज तो कमाल कर दिया! हम कब से तुम्हें ढूँढ रहे हैं?"

दादी ने कोई उत्तर नहीं दिया और हवा में हाथ नचा दिये। मुनीम जी ने फिर कहा, "सुना नहीं तुमने? सेठजी नहीं रहे! जल्दी मोटर में बैठो और चलो।" पीपल दादी ने फिर भी कोई जवाब नहीं दिया। मुनीमजी ने उन्हें मोटर में खींच लिया, तो वह सीट पर आ गिरीं और हँसने लगीं—"हो हो, मैं जानती थी यही होगा। हाँ, यही होगा!"

मुनीमजी ने हैरत-भरी नज़र से पीपल दादी को देखा और समझाना चाहा, "दादी, आज कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो। ज़रा सोचो तो मोहल्ले में वज्रपात हो गया है।"

पीपल दादी ने मुनीमजी की बात जैसे सुनी ही नहीं—अपनी ही धुन में ठहाका मारकर वे बोलीं, "गेंदा ने लिखा था वह सरग में है। हो-हो! सचमुच वह सरग में पहुँच गया। झूठ थोड़े ही कहती हूँ। कश्मीर के फ्रन्ट से रामस्वरूप के बेटे की चिट्ठी आज आई है।" और वे बेतहाशा हँसने लगीं।

चौराहे पर आकर मुनीमजी ने एकाएक गाड़ी रोक दी और दादी से कहा, "दादी, अब उतर जाओ।"

दादी मचली, "नहीं हम चलेंगे।"

"मेरा मज़ाक भी नहीं समझीं दादी?" कुछ सोचकर मुनीमजी ने दादी से कहा, "कहीं सेठजी भी इस तरह मरे हैं?" पीपल दादी कार से बाहर कूद पड़ीं और खिलखिलाते हुए बोलीं, "हाँ, मैं जानती थी, तू झूठ बोल

रही होंगी। वह तब तक हँसती ही रहीं, जब तक मुनीमजी की कार आँखों से ओझल न हो गई।

उस दिन के बाद से ही यह पीपल दादी उस मोहल्ले के लिए एक फालतू चीज़ हो गयी है, जैसे खरोंच-खाया बेसुरा रिकार्ड ! इसे कौन बजाये, कौन सुने ?

एक आँसू, एक मुस्कान

नेहरू पार्क में एक युगल प्रविष्ट हो रहा है; ढलती साँझ के झुटपुटे में मैं एकाएक उन्हें पहचान नहीं पा रहा हूँ।

······अरे, यह तो मुदलियार है! पर उसके साथ वह कौन है? वह युवती···

मुझे मुदलियार के बारे में उड़ती अफ़वाहों का ख़याल हो आता है और अब मैं उन अफ़वाहों में विश्वास करने को बाध्य हो जाता हूँ।

मुदलियार इस समय बहुत बढ़िया कपड़े पहने है और एक नवयुवा प्रेमी की भाँति ही व्यवहार कर रहा है। ओह, इस मुदलियार में कितना फ़र्क हो गया है—वही फ़र्क जो एक ज़िन्दा आदमी और मुर्दा लाश में होता है।

चार माह पूर्व···

'रूट नम्बर टू' की एक दूकान में वह पहली बार मुझे दिखा था। वह मुलाक़ात एक अजीब ढंग से हुई थी और उसका असर मुझ पर अच्छा नहीं हुआ था। मुदलियार आध घंटे से कुछ चीज़ें ख़रीद रहा था और वह सस्ती व घटिया क़िस्म की चीज़ों पर ज़ोर दे रहा था।

दूकान का नौकर आदतन बढ़िया नमूनों की 'कैन्वेसिंग' करने लगा, तो मुदलियार एकदम आवेश में आ गया और बोला, "मुझे सिखाने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारी दूकान में सस्ती चीज़ें न हों, तो वैसा कहो।"

नौकर सकपका गया और मुदलियार की तीखी दृष्टि से अपने को बचाता हुआ वह अलमारियों को टटोलने लगा। मैं अधिक प्रतीक्षा न कर सका। मैंने पत्नी से कहा, "यहाँ तो अधिक विलम्ब होने की सम्भावना है। चलो, हम दूसरी दूकान में चलें।"

हम जाने लगे, तो मुदलियार ने हमें रोकते हुए कहा, "आप जाइये नहीं। मैं बाद में खरीदारी कर लूँगा। आप पहले ले लीजिए।"

उस समय मुदलियार का स्वर अतिशय नम्र था और हमने उससे ऐसे

व्यवहार की आशा न की थी। उसने ख़ुद ही नौकर से कहा, "पहले इन साहब को 'अटेन्ड' करो, मैं बाद में निबट लूँगा।"

पत्नी शृंगार-प्रसाधन के बढ़िया क़िस्म के नमूने देख रही थी और मैंने लक्ष्य किया कि मुदलियार के चेहरे पर घृणा का अजीब-सा भाव है। पत्नी ने जब और भी बढ़िया नमूने लाने को कहा, तो मुदलियार अपने को ज़ब्त न रख सका। वह बुदबुदाया, "ओह, ये सुन्दर और क़ीमती चीज़ें कितनी दुखदायी होती हैं!"

उसका यह कथन स्वगत था, और यद्यपि बहुत धीमी आवाज़ में कहा गया था तथापि मैंने व पत्नी ने सुन लिया और महसूस किया कि वह प्रत्यक्ष रूप से हमें ही सम्बोधित किया गया है। मुझे यह बात बहुत बुरी लगी कि एक तीसरा व्यक्ति हमारी रुचि की टीका करे; लेकिन मैंने जब मुदलियार के चेहरे पर दृष्टि डाली तो वहाँ दीनता का ऐसा भाव पाया कि उसके प्रति मेरा रोष समवेदना में परिणत हो गया।

दूकान से बाहर निकलते हुए पत्नी ने कहा, "आप इस आदमी को पहचानते हैं?"

"कोई अहमक़ मालूम होता है!"

"आपने शायद ग़ौर नहीं किया, वह अपने ही पड़ोस में रहता है।"

वह व्यक्ति तीस-पैंतीस का रहा होगा, लेकिन उसके अधिकांश बाल पक गये थे और चेहरे पर शिकनें पड़ गयी थीं। वह अपने बारे में एकदम लापरवाह था। वस्त्र उसने शायद इसलिए पहन रखे थे कि शरीर ढँका रहे और वह सोसायटी में रह सके। प्रथम दृष्टि में उसमें कोई विशेषता मालूम न होती थी और यदि पड़ोस में रहने के बावजूद मैं उसे जानता न था, तो स्वाभाविक ही था।

पत्नी ने कहा, "कोई ग़रीब आदमी मालूम होता है वह।"

"हो सकता है।"

अब मैंने ध्यान दिया कि मुदलियार मेरे घर के सामने से रोज़ ही निकलता है। एक भौंडी-सी लकड़ी को हाथ में झुलाता हुआ वह तेज़ी से चलता और मुझ पर दृष्टि पड़ जाती तो वह हाथ हिला देता। उसके दफ़्तर जाने का वही रास्ता था। शीघ्र ही मुझे मालूम हो गया कि वह वैसा ग़रीब नहीं है जैसा कि पत्नी ने उसके रहन-सहन से अनुमान किया था, वेशभूषा

यों अक्सर भ्रम पैदा कर देती है ! वह एक दफ़्तर में सुपरिन्टेंडेंट है और तीन सौ रुपया मासिक पाता है ।

शायद वह इतवार का दिन था। मुदलियार मिल गया और मुझे अपने घर ले गया। उसका घर, जैसा कि मैंने अनुमान किया था, बहुत अस्त-व्यस्त दशा में था । कोई चीज़ ठिकाने से नहीं रखी थी । दीवारों में जहाँ-तहाँ पलस्तर उखड़ गया था। घर की अधिकांश चीज़ों पर धूल व मकड़ी का जाला चढ़ गया था। ऐसा मालूम पड़ता था जैसे इस घर में वर्षों से कोई रह ही नहीं रहा है !

अचानक मेरी निगाह एक फ़ोटो पर पड़ी, जो बैठकखाने में सामने ही टँगी थी । फ़ोटो किसी लड़की की थी और ज़रा ध्यान देने पर मैं समझ गया कि वह सुन्दरी रही होगी । मुदलियार के घर में ऐसी सुन्दर लड़की का फ़ोटो होना भी आश्चर्य था । पूरे घर में वह फ़ोटो ही गंदगी से बची थी ।

मुदलियार मेरे कौतूहल को समझ गया । उसने कहा, "मैं इस लड़की को कभी प्रेम करता था ।"

उसके स्वर में भावुकता नहीं थी । मैंने लक्ष्य किया, उसका चेहरा वैसा ही था—निर्विकार, भावशून्य ! मेरी दिलचस्पी बढ़ गयी; पूछा, "यानी अब नहीं करते ?"

"अब तो वह रही ही नहीं ।"

"ओह !"

"इस लड़की को जाने कैसे क्षय हो गया था। मैं कहता हूँ, सुन्दर लड़कियों को ऐसा मर्ज़ हो ही क्यों ?" वह भावुक हो गया था; वह बोला, "आख़िरी क्षण तक मैं यह यक़ीन न कर सका कि उसे क्षय रोग हो गया है। आख़िरी क्षण तक वह फूल की तरह मुस्कराती रही और मैं उस क्षण को कभी भूल नहीं सकता जब वह मुझसे सदा के लिए दूर हो गयी। उस क्षण वह सर्वाधिक सुन्दर थी, एक सुनहरी दीप-शिखा की भाँति ! कैसी विडम्बना है ! आप शायद समझ नहीं सकते, इस लड़की ने मेरी जिन्दगी से हटकर भी मुझे कितना प्रभावित किया है। आज मैं हर सुन्दर चीज़ से नफ़रत करता हूँ। मैं कह नहीं सकता कि इसकी वजह क्या है ? शायद मैं डरता हूँ। मुझे सदा अपने दुर्भाग्य का ख़याल बना रहता है। है न अजीब बात ?" और वह हँसने लगा, लेकिन स्पष्ट ही उसकी हँसी कृत्रिम थी, विषाद की मोटी तह !

मैंने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, "आप इस भ्रम को छोड़िये। अभी उम्र ही क्या है, आप नये सिरे से ज़िन्दगी ढालने की कोशिश कीजिए।"

"कोई लाभ नहीं, मैं कोशिश कर चुका हूँ। नंदिनी के बाद एक लड़की और मेरे जीवन में आयी थी और मैंने फिर वही भूल दुहराई थी। मैं एक बार फिर प्रणय के झमेले में पड़ गया था। हम लोग बहुत दिन तक साथ रहे। लोगों को विश्वास हो गया था कि हम शीघ्र ही विवाह कर लेंगे। लेकिन एक दिन उस लड़की ने एलान कर दिया कि मैं तो ठंडा गोश्त हूँ! और उस दिन के बाद वह फिर मुझसे कभी नहीं मिली।"

"इसकी वजह क्या थी?"

"वजह!' मुदलियार ने मुँह बिचकाया, "मैं क्या कह सकता हूँ? उसने मेरे व्यवहार में ऐसी कोई बात देखी हो। हाँ, अब ख़याल आता है, उसने कहा था—तुम मुझे शक की निगाह से क्यों देखते हो, मैं तुम से दूर नहीं हूँगी।" कहकर वह ज़ोर से हँस पड़ा और बोला, "देखा आपने, मेरा शक भी बेबुनियाद नहीं था। वह मुझ से दूर हो गयी।"

मुदलियार का चेहरा कठोर हो गया था और उसकी आँखों में अजीब-सी चमक झलक आयी थी। सम्भवतः वह चमक विक्षिप्तता की थी। लेकिन मैं बहुत दिनों तक उस चमक को भूल न सका।

इस बीच मैं प्रवास पर रहा और एक पखवाड़े बाद लौटा तो सुना, उसने आत्महत्या करने की कोशिश की थी। रात का वक्त था। रस्सी का फंदा डालकर मुदलियार लटक गया था। कष्ट सहन न कर सका, तो चिल्ला पड़ा। मोहल्ले के लोगों ने आकर उसे बचाया। उन दिनों मोहल्ले में इसी घटना की चर्चा थी। मुझे यह घटना विचित्र अवश्य लगी, लेकिन चूंकि मैं मुदलियार को जानता था, इसलिए आश्चर्य नहीं हुआ। मैंने उस समय यह भी सोचा, इस बार यह भले ही बचा लिया गया हो, लेकिन एक दिन ज़रूर वह आत्महत्या कर डालेगा। मुझे मुदलियार के प्रति सहानुभूति के साथ ही खीज भी हुई कि यह सुशिक्षित व्यक्ति एक वहम में पड़कर आख़िर अपनी ज़िन्दगी क्यों ख़तम करने पर तुला है?

इस घटना का स्वयं मुदलियार पर शायद कोई असर न हुआ था। वह बराबर दफ़्तर जाता और लोगों की आश्चर्य-भरी निगाहों में से यूँ गुज़र जाता जैसे वह बेख़बर है। लेकिन अब वह बहुत कम बातें करता था। मैंने पूछा, "आपने यह क्यों किया था?"

"महज़ भावावेग और क्या ?" कहकर वह हँस दिया था।

मैंने यह निश्चित धारणा बना ली थी कि यह अब सदा ऐसा ही रहेगा, शक्की और विकृत ! और एक दिन जब उड़ती हुई यह ख़बर सुनी कि वह किसी लड़की के साथ देखा गया तो मुझे सचमुच ताज्जुब हुआ। वह कोई विधवा लड़की है जो उसी के दफ़्तर में कार्य करती है।

मुदलियार के घर के आसपास जो लोग रहते हैं, उन्होंने मुदलियार को एक शैतान साबित करते हुये बताया कि रात भर उसके घर में बिजली जला करती है और क़हक़हे गूँजा करते हैं। मुझे आशंका थी कि मुदलियार की नौकरी पर न आ बने किन्तु बाद में मालूम हुआ कि उस लड़की ने ही नौकरी छोड़ दी है।

इस दरमियान मुदलियार एक बार रेलवे प्लेटफार्म पर चहल-क़दमी करता हुआ मिला। वह शायद किसी की प्रतीक्षा कर रहा था और बार-बार कलाई की घड़ी को देख रहा था। हाँ, उस समय वह पर्याप्त साफ़-सुथरा था और मैं उसमें परिवर्तन अनुभव कर सका था। फिर भी मैंने यह विश्वास नहीं किया कि इस परिवर्तन का कारण प्रणय हो सकता है।

मैंने उससे पूछा भी, तो उसने कहा, "क्या तुम समझते हो, मैं फिर यह भूल कर सकता हूँ ?"

मैं अच्छी तरह समझता था, वह ऐसी भूल फिर नहीं कर सकता। पर···

पार्क की क्यारियों में चाँदनी उतर आयी है और मुदलियार उस लड़की के हाथ को झुलाता हुआ फव्वारे की ओर बढ़ रहा है। क्या यह वही विधवा लड़की है ?—

मैंने सोचा, मुदलियार रोमान्स भले ही कर रहा हो, लेकिन वह स्थायी नहीं होगा, स्थायी नहीं हो सकता।

टाउनहॉल की घड़ी में आठ बज चुके हैं और मेरे क़रीब की क्यारी में लगे सूरजमुखी के फूल शिथिल होकर झुक गये हैं। अब मुझे चल देना चाहिए, लेकिन मैं पार्क में ही बैठा हूँ। मेरी निगाह अभी भी मुदलियार और उसकी प्रेयसी पर अटकी है। वह लोग फव्वारे के किनारे खड़े हैं। उस लड़की ने एक फूल तोड़ा। शायद वह गुलाब का लाल फूल है। उसने

मुस्कराकर वह फूल मुदलियार के कोट के 'बटन होल' में लगा दिया। मुझे एक विचित्र-सी अनुभूति हुई। मुदलियार ने फूल को 'बटन-होल' से निकाला। दूसरे ही क्षण उसने वह फूल अपनी प्रेयसी के केशों में खोंस दिया।

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मुझे इस प्रकार प्रणय का यह दृश्य नहीं देखना चाहिए, पर मैं प्रयत्न करके भी वहाँ से अपनी आँखें हटा नहीं पा रहा हूँ। सभ्यता ऐसे ही नाज़ुक प्रसंगों में तो असफल साबित होती है।

अब वह लोग इस ओर ही बढ़ रहे हैं। मुझे विश्वास है कि मुदलियार अपनी ही धुन में आगे बढ़ जाएगा और मुझे नहीं देख पाएगा, लेकिन वह मेरे करीब आकर रुक गया। मैं उसे अनदेखा करना चाहता हूँ। मैंने अपनी आँखें दूसरी ओर फेर लीं।

मुदलियार बिल्कुल मेरे सामने आ गया और हँसते हुए बोला, "ओह शर्माजी, आप हैं।" फिर अपने साथी का परिचय कराते हुए वह बोला, "आप से मिलिए, आप हैं मिसेज़ मुदलियार।"

मैं जैसे आस्मान से नीचे गिरा, "तो······तो······क्या···"

उसी प्रकार मुस्कराते हुए मुदलियार ने कहा, "हम लोगों ने 'सिविल मैरिज़' कर ली है, एक सप्ताह पूर्व। 'मैरिज' यूँ ही ज़रा बेतकल्लुफ़ी से हुई, जलसा वगैरा नहीं किया गया।"

चाँदनी की पृष्ठभूमि में मिसेज़ मुदलियार बड़ी भली दिख रही है, पूरी नवपरिणीता दुल्हन।

एकाएक मुझे ध्यान आया कि मुझे मुदलियार-युगल को बधाई देनी चाहिए। शुभ कामनाएँ प्रकट करते हुए कहा, "तो आख़िर आपने शादी कर ही ली!"

"हाँ!" वह फिर हँसा और बोला, "सब लड़कियाँ एक-सी तो होती नहीं हैं!" कैफ़ियत देनी शायद उसने आवश्यक नहीं समझी, वह उसी प्रकार हँसता हुआ पार्क से बिदा हो गया।

लाजवन्ती का पत्ता

इस गली के छोर पर वह देशी खपरैल वाला दुमँज़िला मकान है। उसके बाहरी छज्जे पर वह गुलाबी गोल चेहरे वाली जवान लड़की अक्सर ही खड़ी दिखती है, मानो वह किसी की प्रतीक्षा कर रही हो! उसकी गोद में सफ़ेद फूल-सी एक प्यारी बच्ची होती है।··· हाँ, वह उसी की बच्ची है!—देखते नहीं, बच्ची बिल्कुल अपनी माँ पर गयी है—वही गोल चेहरा, वैसी ही आँखें और वैसी ही स्निग्ध हँसी। बच्ची के माथे पर घाव का एक निशान है जिसे दूर से भी देखा जा सकता है।······लो, वह बच्ची मुझे देखकर अपनी छोटी हथेली हिला रही है और अपनी तोतली बोली में पुकार रही है, "मामा! माऽऽमा!"

···नहीं। कोई विशेष घनिष्ठता नहीं है। यूँ ही एक बार साधारण-सा परिचय हो गया था। तब से वह बच्ची मुझे पहिचानने लगी है, पर उसकी माँ तो परिचित होकर भी अपरिचित का सा व्यवहार करती है। उसने अपनी नन्ही बच्ची की पत्तों जैसी हिलती हथेलियों को रोक लिया है और मुँह पर अँगुली रख वह बच्ची को धमका रही है—"शि:···चुप!"

इस ऊबड़-खाबड़ गली से जब भी निकलता हूँ, वह लड़की और उसकी बच्ची अक्सर ही दिख जाती है और फिर यही होता है, बच्ची मेरी ओर ललकती है, माँ उसे झिड़कती है।

इसकी वजह? अरे, कोई नयी बात नहीं। वही बात है, जवान लड़की को हवा से भी परदा करना पड़ता है। उसकी इज़्ज़त लाजवन्ती का पत्ता जो समझी जाती है। पूरे घर की तबाही स्वीकार की जा सकती है, मगर औरत का बेपर्दा होना, घर से बाहर निकलकर आसन्न संकटों का सामना करना, पसंद नहीं किया जा सकता। हाँ, मैं यह बात इसी लड़की के प्रसंग में कह रहा हूँ। उसके बारे में अधिक कुछ तो नहीं जानता। जो कुछ जानता हूँ, वही बतलाऊँगा!

कैसा आकर्षक सौन्दर्य है इस लड़की के चेहरे पर! मैट्रिक तक पढ़ी-लिखी है वह। कोई भी युवक ऐसी लड़की को अपनी जीवन-संगिनी बनाकर

अपने भाग्य को सराह सकता था। मगर जातिगत संकीर्णता के कारण उसका विवाह एक ऐसे लड़के से हुआ जो अभी शिक्षा ही ग्रहण कर रहा है। लड़का अभी कमाऊ नहीं और उसके माँ-बाप बहू को घर पर बिठाकर खिला नहीं सकते—इसलिए यह ब्याही-वरी लड़की मैके में पड़ी है। सवाल ठीक है—जब वे बहू को रख न सकते थे तो लड़के का विवाह ही क्यों किया ? अजी, इस पर मुसीबत यह है कि बेचारी पहली बार ही ससुराल गयी और गर्भवती हो गयी। सास-ससुर को इस बात से तनिक भी ख़ुशी न हुई। ख़ुशी कैसे होती ? उनकी आर्थिक हालत वैसे ही गिरी हुई थी, उस पर एक नये प्राणी के जीवन-यापन का भार आता दिखा। उन्होंने बहू को मैके भेज दिया। उस दिन से यह जो आई तो आज तक यहीं है—कोई उसे लेने नहीं आया। यहीं यह बच्ची हुई और अब तो वह बच्ची भी काफ़ी बड़ी हो गयी है।

उस मकान के नीचे के मंज़िले पर वह कठारखाने की दूकान है जिसके बाज़ू में पान का ठेला है। उस ठेले पर कोई मनचला छोकरा बैठता है, जो बड़ा गंदा रहता है··· मिचमिचाती आँखें, शरीर में जहाँ-तहाँ कत्थे और चूने के दाग़ ! अधिक पान खाने से उसका मुँह बड़ा लाल दिखता है—ठीक उस भेड़िये की तरह जिसके होठों पर ताज़े शिकार का रक्त लिपटा होता है ! कभी-कभी वह अपनी भद्दी आवाज़ में कोई अश्लील फ़िल्मी गीत छेड़ बैठता है।

पान का ठेलेवाला वह मनचला छोकरा बड़ी दिलचस्पी से उसके बारे में अनाप-शनाप बकता है।

"साहब, है मनचली। शौहर के पास नहीं रहना चाहती।"

"ऐसा ?"

"हाँ जी—देखते नहीं, यहाँ कैसे मज़े से रहती है, दिन भर लोगों को घूरा करती है।"

ठेले पर खड़े लोग ऊपर छज्जे की ओर देखते हैं। उनकी शरारत भरी आँखें छज्जे पर खड़ी उस गुलाबी लड़की के दमकीले चेहरे पर पड़ती हैं—लड़की लजाकर ओट में हो जाती है। नीचे खड़े लोग ज़ोर से हँस पड़ते हैं और क़हक़हा दूर तक गूँज उठता है।

ऐसे क़हक़हे अक्सर ही उस ठेले पर गूँजा करते हैं।

एक दिन उस ठेले पर ही मालूम हुआ कि प्रभा (उस छज्जे वाली

लड़की का यही नाम था) ने किसी मिडिल स्कूल में शिक्षिका की नौकरी कर ली है। यह जानकर प्रसन्नता ही हुई। सोचा, अब वह अपने बूढ़े माँ-बाप के लिए भार साबित न होगी, सुख सँजोने वाला सपूत होगी।

छज्जा सूना रहने लगा। प्रभा की वह छरहरी आकृति, गुलाबी गोल चेहरा और बड़ी-बड़ी काली आँखें वहाँ अब शायद ही कभी दिख पड़तीं। यदि कभी दिखतीं तो उनमें पहले जैसी बेबसी और उदासीनता न होती।

कोई लड़की अपने उदर-पोषण की व्यवस्था खुद ही करे—इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है? उसके माँ-बाप और सास-ससुर को तो इस पर गर्व होना चाहिए। इसमें भला कौन-सी बुरी बात है जो कोई लज्जा और ग्लानि अनुभव करता? आत्म-निर्भरता आत्म-सम्मान की जननी है और दुनिया में वही सिर ऊँचा उठाकर चल सकता है जो आत्म-निर्भर है।··· मगर यहाँ एक उल्टी ही बात सुनने को मिली। मालूम हुआ, प्रभा बहुत छिपकर नौकरी करने जाती है। उसे सदा आशंका बनी रहती थी कि कहीं यह बात उसके ससुराल वालों के कानों में पड़ गयी तो वे न जाने क्या कर बैठें? शायद सदा के लिए उसका परित्याग कर दें। वे बहू को घर बिठाकर खिला तो नहीं सकते, पर साथ ही यह भी स्वीकार नहीं कर सकते कि बहू अपने पैरों पर खड़ी होकर खुद कमाये, खुद खाये—इससे उनके सम्मान को बट्टा जो लगता था!

पर ऐसी बातें भी कहीं दबी रह सकी हैं? खास तौर से ऐसी हालत में तो कदापि नहीं, जब वहाँ वह पान वाला शरारती छोकरा मौजूद है। पूरे मोहल्ले के लोग यह बात जान गये। पर ग़नीमत यह हुई कि दूसरे शहर में होने के कारण उसके ससुराल वालों तक वह बात अब तक न पहुँच पाई।

उस दिन शाम को धन्तोली[1] के मोड़ पर एक रिक्शे पर बैठी प्रभा दिख गई। शायद वह स्कूल से लौट रही थी। उसकी गोद में किताबें थीं। मुझे देखा तो सशंकित होकर उसने झट किताबों पर साड़ी का पल्लू डाल दिया। किताबों को छिपाने के उसके इस प्रयास को देखकर मेरे होठों पर हँसी उभर आयी। इससे वह झेंप गयी—उसके गुलाबी गालों पर झेंप की सुर्खी बिखर गयी।

उसके इस तरह झेंपने से मैं किंचित् क्षुब्ध हो उठा था।

---

१. नागपुर का एक मुहल्ला

सोचा, वह झेंपी क्यों ?

उसका बाप बूढ़ा है, मुश्किल से दो आँकड़े का अल्प वेतन कमा पाता होगा। घर में छोटा भाई है, बूढ़ी माँ है, वह है और है उसकी छोटी बच्ची। घर में खाने वाले पाँच प्राणी हैं, और कमाने वाला एक बूढ़ा बाप। बूढ़े बाप की कमाई की चादर कहाँ तक पूरी पड़ती होगी ? प्रभा का विवाह ही बूढ़े बाप ने कर्ज लेकर निबटाया होगा। सम्भव है, अभी भी कुछ ऋण बकाया हो। ऐसे में यदि बेटी अपने बूढ़े बाप को कुछ सहारा देती है, तो क्या ग़लत करती है ? वह ऐसा क्या बुरा कर रही है जिस पर पर्दा डालने की आवश्यकता पड़ती ? वह किसी से भयभीत क्यों हो ? वह झेंपे क्यों ?

मगर पान का ठेलेवाला वह मनचला छोकरा है, जो अब जी भरकर तानें कसता। उसे तो जैसे मौक़े की तलाश थी। नाक-भौं सिकोड़ कर वह कहता, "जी, अब तो पूरा कलियुग आ गया है। लोग अपनी जवान बेटी की कमाई खाते हैं। ख़ुद खिला नहीं सकते, तो गंगा-जमुना[१] में क्यों नहीं बिठा देते ?···हुँ ! शरीफ़ों की बस्ती में चकला खोल रखा है।" उसकी इन बातों का कोई अन्त, कोई छोर न था।

न जाने किस जन्म का बैर था जो वह भँजा रहा था। उड़ती-सी एक ख़बर यह सुनी थी कि किसी दिन यह प्रभा को छेड़ बैठा था, तब उसने ऐसी कसकर चपत लगाई थी कि पाँचों अँगुलियाँ उछल आई थीं। शायद उसी चपत का जवाब वह इस ज़नाने ढंग से दे रहा था !

पर ताज्जुब तो यह है कि पान के ठेले वाले ऐसे मनचले छोकरे के ऊल-जलूल 'रिमार्क' ही समाज के विचार समझे जाते हैं। इस सुसंस्कृत (!) समाज का यह प्रतिनिधि भी ख़ूब है—एक मूढ़ छोकरा ! जब सबल समझदार लोग भी इस ढाँचे से जूझने का साहस नहीं कर सकते, तब एक अबला की क्या हस्ती थी ? बेचारी सदा डरी-सहमी-सी रहती। आँखें उठाकर चल नहीं पाती थी। शिक्षिका का जीवन यों बड़ा सरस होता है। बच्चियों और समवयस्क शिक्षिकाओं के बीच रहकर दिन हँसी-ख़ुशी गुज़रते हैं। प्रभा के लिए तो शिक्षिका का जीवन चुराया हुआ ज़ेवर था। वह उसके पास था, मगर पास होकर भी बहुत···बहुत दूर था। वह उसका कभी उपयोग नहीं कर सकती थी। वह कभी हँस-बोल नहीं सकती थी।

१. नागपुर की वेश्याओं की बस्ती

कुछ दिन बीते—

चौमासा बदल गया। अब गली में कीचड़ व दलदल न रहता, हवा के ठंडे झकोरों के साथ धूल उड़ा करती। और हाँ, पान के उस ठेले पर अब प्रभा के बारे में कम ही बातें हुआ करतीं। प्रभा ने जो पटरी पकड़ ली थी, उस पर वह उसी तरह घिसटती जा रही थी। उसके सम्बन्ध में अब कोई नयी बात न होने से उसका ज़िक्र कम ही होता था। तथापि पान के ठेले पर क़हक़हे पूर्ववत् गूँजा करते थे—आख़िर क़हक़हों के लिए विषयों की क्या कमी? प्रभा नहीं तो रमा, और रमा भी न रही तो जुलेखा, सौदामिनी, राधा—आस-पास लड़कियों की क्या कमी थी और लोगों की कुदृष्टि के सामने तो अच्छी-से-अच्छी पतिव्रता भी बदचलन थी!

आर्थिक आत्म-निर्भरता ने प्रभा को इस बीच कुछ बदल दिया था। उसके चेहरे पर शंका की वह छाया दृष्टिगोचर न होती थी जो पहले रहा करती थी। मनहूसियत और निराशा की काली गहरी रेखाएँ अब कुछ छँट गयी थीं और उसका रंग दमक उठा था, आँखों से ओज झाँकने लगा था तथा अंगों से चपलता टपकती थी। कुम्हलाये पौधे पर मानो फिर वसन्त आ गया था!

नौकरी को छिपाने के बारे में भी अब वह उतनी सतर्क नहीं दिखती थी। उस दिन वह स्कूल से लौटी तो घर के सामने किसी बच्चे ने उसे चिढ़ाया, "नमस्ते मास्टरनी बाई!" मगर इससे वह चिढ़ी नहीं और न ही झुँझलाई। प्रत्युत बच्चे के गाल थपथपाये और हँसती हुई सीढ़ियाँ चढ़ गयी।

वह कभी-कभी छज्जे पर ऊन बुनते हुए दिखती। जाड़े का मौसम था न। बच्ची के लिए स्वेटर या मोज़े बुन रही थी। निकट ही उसकी छोटी बच्ची खेलती होती। अपनी पतली हथेलियों से बार-बार वह ऊन का धागा पकड़ लेती थी। माँ उसे झिड़कती थी।......ज़िन्दगी का यह भी एक प्यारा तमाशा था! बच्ची कभी तुनक जाती और प्रभा उसके कोमल गालों को बार-बार चूमकर उसे मनाती। अपनी इस बच्ची को वह बहुत चाहती थी। बच्ची के लिए वह माँ और पिता दोनों थी। और वह बच्ची भी उसके लिए सब कुछ थी। उसमें उसे पति का गर्म प्यार और बेटी का तरल स्नेह दोनों ही मिलते।

वह अपनी बच्ची से मिलने के लिए शाम को बहुत जल्दी ही घर

लौटती थी। और बच्ची उसे दरवाज़े पर बाट जोहती हुई ही मिलती। दूर से माँ को आती देखकर बच्ची खुशी से उठती और तालियाँ पीटने लगती थी और माँ उसे उठाकर छाती से लगा लेती थी। इस तरह वे माँ और बेटी एक-दूसरे के लिए सहारे थे। एक-दूसरे से सीमित उनकी ज़िन्दगी पूर्ण प्रतीत होती थी।

लेकिन यह क्रम अधिक दिन न रहा।

पान के ठेले पर ही सुना, वह मनचला छोकरा कह रहा था, "अरे, ये आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियाँ। बाहर घूमती हैं, अपने बच्चों को सँभाला नहीं जाता।"

पूछा, "क्यों, क्या हुआ ?"

छज्जे की ओर संकेत कर वह बोला, "उसी लड़की की बात कह रहा हूँ। साहब ! बच्ची को घर पर छोड़कर ख़ुद सैर करने जाती थी···"

"सैर को नहीं, स्कूल को कहो।"

वह बोला, "हाँ, दोनों एक ही बात हैं। ख़ुद बाहर मौज़ करती थी, बच्ची की कोई चिन्ता नहीं थी। कल वह सीढ़ियों तक आ गयी। किसी ने ध्यान न दिया। पैर फिसला तो नीचे आ गिरी, मरते-मरते बची। सारा शरीर लहू-लोहान हो गया था···"

उसके दूसरे दिन अस्पताल में प्रभा दिख गयी। बच्ची को पट्टी बँधवाने आयी थी वह। उस दिन पहिली बार उससे बातचीत हुई। मैंने पूछा, "घर में क्या दूसरा आदमी नहीं है, जो आप ही इसे लेकर अस्पताल आ गई ?"

वह बोली, "कुछ दिनों से छोटा भाई बिस्तर पर पड़ा है। उसकी हालत भी चिन्तनीय है। पिताजी सरकारी काम से दौरे पर बाहर गये हैं। कौन लाता इसे······ ?"

परिस्थिति का यह कैसा दुखद संयोग था। जब घर में कोई सहारा नहीं—पिता, पति, भाई, सब दूर थे, तब उस पर आपत्ति का यह पहाड़ टूट पड़ा मगर वह विचलित न हुई थी, अपने कर्तव्य-पथ पर डँटी थी।

डॉक्टर मेरे परिचित थे। मैंने बच्ची की मलहम-पट्टी अच्छी तरह करने के लिए उनसे कह दिया।

बच्ची को पट्टी बँधा लेने के बाद प्रभा ने मुझसे विदाई ली और रिक्शे पर जा बैठी। प्रभा और उसकी बच्ची को लिये रिक्शा चौराहे से मुड़ा और आँखों से ओझल हो गया। मगर वह प्रभा, उसकी बड़ी-बड़ी काली

आँखें और आँखों में खिंची दृढ़ता और तेज की प्रखर रेखाएँ मेरे मानस-पट पर नाचती रहीं। एक ओर नारी के संघर्ष और दृढ़ता का चित्र था, दूसरी ओर पुरुष के स्वार्थ, कमज़ोरी और पलायन का नक़्शा। कच्ची उमर में माँ बन कर भी यह प्रभा अपने दायित्वों के प्रति कितनी सजग और ईमानदार है? उधर पुरुष होकर भी उसका पति संघर्षों से दूर खड़ा अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन और लापरवाह है।

वह अस्पताल में कई बार मिली। उसकी सहनशीलता और कार्य-शक्ति को देखकर आश्चर्य होता था। बच्ची को अस्पताल से पट्टी बँधवाकर वह घर लौटती और फिर स्कूल जाती। बूढ़ी माँ और रुग्ण भाई की देखभाल भी उसे ही करनी पड़ती थी। इस व्यस्त दिनचर्या में उसकी आहें जैसे क़ैद हो गई थीं, आँसू जैसे सूख गये थे। सदा गुमसुम रहकर मशीन की तरह वह अपने कामों को करती रहती। न तो उसके काम ही ख़त्म होते थे और न ही वह कभी थकती थी।

एक दिन उसका छोटा भाई बच्ची को पट्टी बँधवाने अस्पताल में आया। उससे पूछा, "क्यों दीदी को क्या हो गया जो तुम बच्ची को लेकर आये?"

कम उम्र के उस भोले लड़के ने बतलाया, "जीजी अब कहीं बाहर आ-जा न सकेंगी। कानपुर वालों (प्रभा के ससुराल वालों) का पत्र आया है, उन्होंने मनाही की है।...दीदी ने स्कूल से भी इस्तीफ़ा दे दिया है।"

...बस वही हुआ जो एक-न-एक दिन होना था! सोचा, कैसे भोले ढंग से यह बालक यह सब बता गया? वह लोक-धर्म को क्या समझता? समझता होता, तो या तो यह बात बतलाता ही नहीं और बतलाता तो अपने स्वर में ज़हर और आग घोलकर!

और फिर सोचा, ज़रूर प्रभा के ससुराल वाले बड़ी ऊँची नाक वाले होंगे। कैसे वे अपनी बहू का बाहर आना-जाना स्वीकार कर सकते थे? नाक जो कटती थी!...शरीर में एक नाक ही तो है, जिसकी रक्षा होनी चाहिये, हर क़ीमत पर होनी चाहिये। पेट भूखा रह सकता है, दूसरे अंग क्लेश भुगत सकते हैं, मगर नाक बनी रहे, यही इन नाक वालों की फ़िला-सफ़ी है। उनकी नाक भी जाने किन नर्म तत्त्वों की बनी होती है! हल्की-सी फूंक से उतरने लगती है। किसी ने आगे-पीछे एक शब्द भी कहा तो

उनकी नाक को धक्का पहुँचा। बहू पर्दे से बाहर निकले, यह तो बहुत बड़ी बात हुई। सारी प्रतिष्ठा जाती रही, पुरखों की सारी साख मिट गयी !··· मैंने सोचा, जरूर प्रभा के ससुराल वालों को यह जानकर गहरा सदमा पहुँचा होगा कि उनकी गृहलक्ष्मी ने घर की देहरी के बाहर पैर रखा।

दूसरों से लड़ा जा सकता है, पर अपनों से नहीं। प्रभा ने शायद यही सोचकर फिर घर की क़ैद स्वीकार कर ली है। ससुराल से उसे लेने अभी भी कोई नहीं आया, क्योंकि सुना है, प्रभा के सुयोग्य पतिदेव इस बार फिर उसी कक्षा में अटक गए हैं। इसीलिए शायद···

···मगर देखो, पान के ठेले पर खड़े लोग इधर ही देख रहे हैं ! वह मनचला छोकरा कह रहा है, "बेहया, मुहल्ले भर के बाबूओं से आँखें लड़ाती है !"

यहाँ ठहरना ठीक नहीं। चलो, अब चलें।

हीरे की कनी

ड्राइंग रूम के चौड़े सोफ़े पर करवट बदलते हुए राजेश ने सोचा, कोई भी मेरी यह आवाज़ सुन नहीं सकता—'दुनिया वालो कान खोलकर सुन लो, शशि मेरा बेटा नहीं है, कदापि नही है। मैं, जिसे तुम उसका बाप समझते हो, यह ज़ाहिर करता हूँ कि शशि··· ।

उफ़, यह आवाज़ उसके मन की चहारदीवारी को पारकर ओठों की सरहद लाँघ नहीं सकती। दुनिया सदा यही समझती रहेगी कि शशि प्रोफ़ेसर राजेश का बेटा है। इस राज़ को जानने वाले फ़क़त तीन ही लोग हैं। नहीं, ग़लत कहा, डॉक्टर फ़ैरों को मरे तो आठ माह हो गये। अब केवल दो व्यक्ति बच रहे हैं, जो सचाई को जानते हैं, एक पद्मा और दूसरा स्वयं वह। पद्मा इस राज़ को कभी ज़बान पर नहीं लाएगी और ठीक ही है, वह इसे बताए ही क्यों? वह शशि की जननी है। उसे तो इसी तथ्य से मतलब है, लेकिन राजेश···।

मिस्टर कपूर ने उस दिन शिकायत की थी, "मज़ूमदार साब, आज-कल आप बहुत अस्वस्थ मालूम पड़ते हैं?"

कपूर ने दुरुस्त कहा था, लेकिन राजेश क्या उसको अपना मन खोलकर बता देता? नहीं, वह ऐसा नहीं कर सकता। सभ्यता का तकाज़ा···यह राज़ उसे अपने मन की तहों में छुपाकर रखना होगा। यह राज़ जो इतनी बड़ी सच्चाई है। ओफ़, यह हीरे की कनी-सी कठोर सच्चाई···

वह दो वर्ष से इस सच्चाई को पचा जाने की हरचन्द कोशिश कर रहा है। सबके स्वरों में स्वर मिलाकर वह भी कहता है, "हाँ, शशि प्रोफ़ेसर राजेश मज़ूमदार का बेटा है।"

"यह झूठ है, सरासर झूठ।" भीतर की यह आवाज़···आह, इसे वह क्यों नहीं अनसुनी कर पाता? भीतर की यह आवाज़ इतनी तेज़ क्यों होती है? शायद सच्चाई ऐसी ही होती है। कंधे झटकार कर राजेश खड़ा हो गया

और तेज़ी से चहल-क़दमी करते हुए वह बुदबुदाया, "मैं इसे अब बर्दाश्त नहीं कर सकता।" यह शायद टावर की घड़ी के घंटे बज रहे थे—एक, दो, तीन, चार···पूरे बारह, मध्य रात्रि। चौकीदार की आवाज़ें रुक गयी थीं, शायद वह झपकियों में खो गया था।

राजेश खिड़की के क़रीब आकर रुक गया। 'शेड' में खड़ी नयी 'डाज' को घूरते हुए उसे ख़याल आया, क़रीब दो वर्ष पूर्व :

ऐसी ही एक रात थी वह। डॉक्टर फैरो के 'क्लिनिक' से बाहर निकलते हुए पद्मा के क़दम डगमगा रहे थे, वह बुरी तरह हाँप रही थी। राजेश ने उसका साहस बढ़ाते हुए कहा था, "फ़िज़ूल ही परेशान मत होओ, डार्लिंग। मैं जो तुम्हारा पति हूँ, जानता हूँ, तुम उतनी ही पवित्र और सच्चरित्र हो, जितनी कोई पत्नी हो सकती है।"

लेकिन क्या ये उसके हृदय के उद्गार थे ? नहीं, राजेश ने उस दिन अपने को धोखा दिया था। वह कितनी सावधानी से अपनी आशंकाओं और द्वेष पर ज़ब्त रख सका था। पद्मा उस दिन सहमी हुई थी और राजेश से नज़र नहीं मिला पा रही थी। लेकिन राजेश था कि बार-बार उसे चूम रहा था, गो उसके हृदय में क्षोभ और ग्लानि का भयंकर ज्वार उमड़ रहा था।

ग्लानि का वह ज्वार···राजेश ने सोचा था, समय की मोटी तह उसे भाटे में बदल देगी, लेकिन यह भ्रम साबित हुआ। समय के पास हर मर्ज़ का इलाज नहीं है। उसने तो इस ज्वार को जैसे उत्तेजित ही कर दिया था। पद्मा एक सुखी माँ के स्वप्नों में खोकर सब कुछ भूल गयी थी। औरत ऐसी ही होती है, राजेश ने सोचा, मक्कार और स्वार्थी ! पद्मा को सुखी देखकर राजेश को खुश होना चाहिये था, पर यह न हो सका था। उल्टे उसी तेज़ी से उसका विद्रोह बढ़ता ही गया था। अब तो उसे पद्मा की सूरत से ही नफ़रत होने लगी थी। उसके अन्दर बैठा शैतान जैसे ज़ोर-शोर से पद्मा को झिड़कना चाहता, 'पद्मा, ओ कुल्टा नारी ! तू अपने गर्भ में एक पाप को पाल रही है।'

पद्मा आकर सोफ़े के चौड़े हत्थे पर बैठ जाती और जब राजेश के गले में वह बाँहें डाल देती तो जाने क्यों, राजेश को उसकी बाँहें दो खूबसूरत साँप मालूम होतीं। राजेश चाहता कि वह उनको गले से छिटका कर दूर कर दे, लेकिन उसे संयम रखना पड़ता। वह अपना विकृत चेहरा दूसरी ओर फेरकर

रह जाता, कड़वे शब्द कंठ में ही फँसे रह जाते। इस घुटन की भी कोई सीमा थी।

पद्मा अपने ही ख़यालों में बहकर कहती, 'डियर, हम अपने बच्चे का नाम क्या रखेंगे? कोई अनोखा और प्यारा नाम होना चाहिए।'

प्यारा और अनोखा नाम···राजेश सोचता, किसके बच्चे का? नहीं, यह ग़लत है। राजेश की ज़बान पर यह शब्द आ जाते 'पद्मा! वह बच्चा तुम्हारा ही होगा, मेरा नहीं। मैं उसका पिता नहीं हो सकता। यह वहम छोड़ो···' लेकिन मुड़कर जब वह पद्मा को देखता, उसकी आँखों में आँखें डालकर जब वह उसके हृदय के भावों को समझना चाहता, तो उस क्षण उसे झटका-सा लगता—उसे क्या हक़ है कि वह पद्मा के स्वप्नों को नष्ट करे? जिह्वा पर आये शब्द वहीं ठहर जाते और वह अपने चेहरे की विकृत रेखाओं पर मुस्कान की झिल्ली चढ़ाते हुए कहता, 'हाँ रानी, हमारे बच्चे का एक अनोखा और प्यारा नाम ही होगा।'

रात्रि की निस्तब्धता में घड़ी की आवाज़ बूढ़े आदमी के खर्राटों की तरह एक गति से जारी थी। वह शायद रॉबिन भूँका। इस समय कौन होगा? नहीं, वहम है। रॉबिन को यह विचित्र आदत हो गयी है। वह जागते हुए भी सोता है और सोते हुए भी चौकन्ना रहता है, जब-तब भूँक उठता है, जैसा रॉबिन वैसा ही······राजेश ने सोचा—उँह, पशु और आदमी की क्या तुलना? पर आदमी भी प्राणी-विज्ञान के अनुसार पशु ही तो है। पशु ही हो, तो क्या?

टावर की घड़ी दो घण्टे बजा चुकी थी।

बिस्तर पर लेटते हुए राजेश ने सोचा, विचारों की दुनिया कितनी उलझी हुई है। वह बुदबुदाया—'आधी रात तो मैं जागते हुए बिता चुका, अब मुझे सो जाना चाहिए।'

उसने पलकें झपका लीं, लेकिन दूसरे ही क्षण जैसे चौंककर आँखें खोल दीं। आँखें मूँदते ही वह तस्वीर फिर उपस्थित हो गयी थी, पद्मा की गोद में किलकता शशि! मातृत्व के पूर्णत्व की वह तस्वीर!······राजेश ने सोचा, इसमें उसकी जगह कहाँ है? शायद एक छोर पर एक तमाशबीन के रूप में। हाँ, एक तमाशबीन ही तो······

वह इस घटना में सदा एक तमाशबीन रहा है। महरी ने आकर खुश-

ख़बरी सुनाई थी, 'साब, बधाई हो। मेम साहिब को बाबा हुआ है, इनाम दीजिए। बहुत सुन्दर बच्चा है।' यह सुनकर राजेश एक तटस्थ प्रेक्षक ही बना रहा था, जैसे इस घटना का उसके जीवन में कोई महत्त्व ही न हो। महरी पाँच रुपये का नोट पाकर ख़ुश-ख़ुश लौट गई थी, पर न जाने क्यों, राजेश के हृदय में वह उमंग नहीं उठी कि वह जाकर पद्मा के बच्चे को देखता। उल्टे, वह बच्चा देखने के प्रसंग को टालता रहा। तीन दिन बाद जब वह बच्चा देखने गया, तो पद्मा ने उलाहना दिया। लेकिन राजेश पूरी तैयारी से गया था। वह मुस्कराता रहा। पद्मा के हर शिकवे का जवाब वह एक स्नेहिल मुस्कान से देता रहा।

लेकिन लौटकर जब वह अपने कमरे में आया, तो निढाल होकर सोफ़ पर इस तरह गिर गया, जैसे बेजान हो गया हो। वह उस दिन खूब जी भरकर रोया था। अजीब बात···जिस दिन उसे दिल खोलकर हँसना चाहिए था, उस दिन वह रो रहा था।

वह रोया क्यों?

काश, वह एक तमाशबीन ही रह पाता—पद्मा की ख़ुशियों का एक तटस्थ दर्शक!

लोग बधाइयाँ देने आते, पर राजेश को लगता, वे उसका मख़ौल उड़ा रहे हैं। अच्छे अज़ीज़ दोस्त भी उसे अपने दुश्मन जान पड़ते।

आज साँझ को भी यही हुआ—बीस वर्ष बाद पुराना दोस्त चटर्जी मिला था। राजेश ने महसूस किया, चटर्जी के साथ उसे रूखा व्यवहार न करना चाहिए था। उसका दोष क्या, महज़ इसलिए कि उसने पद्मा के बच्चे को दुलराया-पुचकारा? दूसरे बुज़ुर्गों की तरह वह बोला—'राजेश, बच्चा ठीक तुम पर गया है, वैसा ही स्वस्थ और वैसा ही शैतान!'

यह बात सुन राजेश ने फिर वही प्रसन्नता का अभिनय किया था, लेकिन भीतर वह ग्लानि से जैसे ऐंठ गया था। ग्लानि भी एक 'पॉइज़न' है। राजेश चाहता था, जल्द ही यह तमाशा ख़त्म हो, लेकिन चटर्जी था कि दोस्त के एकलौते बेटे के प्रति अपना हृदय उँडेल देना चाहता था।

अचानक बच्चा रोया, शायद इसे कोई चीज़ चुभ गयी थी। अवसर पाकर राजेश ने दूर खड़ी आया को संकेत किया, 'बच्चे को बाहर ले जाओ।'

आया बच्चा लेने आगे बढ़ी, तो चटर्जी ने बच्चे के हाथ में एक हरा नोट रख दिया।

राजेश की सहन-शक्ति अब जवाब दे गयी। उसने उठकर बच्चे के हाथ से वह नोट छीन लिया और चटर्जी के मना करने के बावजूद उसकी जेब में ठूँस दिया।

वह सचमुच आपे में नहीं था। उसने कहा—'आप राजेश के बेटे को यह भेंट दे रहे हैं न! मगर यदि..........यदि..........' वह आगे न बोल सका था।

चटर्जी रुष्ट होकर ही लौटा था। राजेश चाहता था, अपने इस पुराने दोस्त से साफ़-साफ़ बातें कर ले। यदि वह ऐसा कर पाता, तो दिल का बोझ कितना हल्का हो जाता, लेकिन......

यह पद्मा की ज़्यादती है, राजेश ने सोचा, वह हर मेहमान के सामने अपना बच्चा क्यों भेज देती है? मेहमान जब बच्चे को प्यार करता है तो उसे जाने कौन-सी खुशी होती है। पढ़-लिखकर भी पद्मा फूहड़ ही रही। वह क्यों नहीं समझती, कि राजेश जो उसका पति है, जिसके साथ उसका भविष्य बंधा है, यह सब पसन्द नहीं करता? जब से बच्चा हुआ है, वह लापरवाह हो गयी है।

पार्क में घण्टे भर चहल-क़दमी करने के बाद राजेश जब आया के कमरे के क़रीब से गुज़र रहा था, तब कमरे से आती पद्मा की आवाज़ को सुनकर वह जैसे चौंक गया। इतनी स्वाभाविक बात पर भी जाने क्यों उसे आश्चर्य हुआ।

'पद्मा!' वह शायद बहुत ज़ोर से चिल्लाया था। आया सकपका गयी थी।

पद्मा ने बच्चा आया को दिया और आकर राजेश के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा, 'क्या बात है?'

पद्मा को तीखी दृष्टि से घूरते हुए राजेश एकाएक बोला, 'तुम ऐसी गंदी क्यों रहती हो? और कुछ नहीं तो अपनी सामाजिक स्थिति का तो ख़याल रखो।' राजेश ने नर्म होकर बात कहनी चाही थी, पर स्वर में कर्कशता स्पष्ट थी।

राजेश के शरीर से सटते हुए पद्मा ने कहा, 'डियर, क्या अब मेरे पहनने-ओढ़ने के दिन रहे हैं?'

राजेश ने झटककर हाथ खींच लिया, उसे ताव आ गया था। इसके पहिले की पद्मा कुछ समझ पाती, उसने उसके गाल पर तमाचा जड़ दिया, 'कमीनी, तर्क करती है!'

ज़िन्दगी में पहली बार उसने पद्मा को यों पीटा था और तब उसे मालूम हुआ कि उसकी सारी शिक्षा व्यर्थ हो गयी। भीतर वह एक हैवान है, जंगली पशु!

कुछ देर बाद पद्मा ने आकर बन्द कमरे का दरवाजा खटखटाया। इस समय वह सज-सँवर कर आई थी। उसके अंग-अंग मुस्कान से प्रदीप्त थे। वह शायद राजेश की प्रतारणा की प्रतिक्रिया थी, लेकिन इससे राजेश का क्षोभ मुखर हो उठा।

पद्मा ने कहा, 'चलो घूमने चलें।'

राजेश ने टाला, 'नहीं, सिर में दर्द है।'

पद्मा की कोमल अंगुलियाँ राजेश के माथे पर फिरने लगीं। राजेश उसे रोक न सका था।

टावर की घड़ी फिर घण्टे ठोक रही थी—टन, टन, टन···तीन घण्टे। रात के दो प्रहर बीत चुके थे।

अपने भारी सिर को दोनों हाथों में पकड़कर राजेश ने सोचा, एक काली छाया-सी इर्द-गिर्द डोल रही है। इस छाया ने उसके दिलोदिमाग़ पर असर कर रखा है। उफ़, एक अबोध से बच्चे ने कितना दिक कर रखा है। सारी परेशानी की वजह यह शशि ही है। क्या यह परेशानी यूँ ही उसकी ज़िन्दगी को तबाह कर देगी? क्या वह दूर नहीं की जा सकती? क्या वह···

बिजली की तेज़ी के साथ राजेश के मस्तिष्क में एक विचार आया। ओह, कितना आसान है! उसने सोचा, एक हल्की-सी हिचकी और सब ख़त्म, सारी समस्या दूर।

वह बुदबुदाया, बरख़ुरदार उठो, ऐसा निष्क्लेश जीवन भी क्या, जिसमें एक हत्या का दाग़ भी न हो। चाँद में भी दाग़ होता है।

शशि के कमरे की ओर बढ़ते हुए राजेश को लग रहा था, जैसे वह स्वप्न में चल रहा है। रॉबिन फिर भूँक उठा था।

शशि के कोमल शरीर पर हाथ फेरते हुए राजेश के हाथ सख़्त होते

गए। उसने टटोला, यह रहा हाथ, यह धड़ और यह गला···ख़त्म कर दूँ? लेकिन चीख़ न पड़े, उसने एक हाथ से शशि का मुँह दाब लिया और दूसरे से गला।

शशि ने अचानक आँखें खोल दीं और अपने पतले ओठों से उसने राजेश की हथेली चाट ली। वह मुस्करा रहा था।

'च् च् नादान।' राजेश रुक गया। उसके हाथ की पकड़ शिथिल हो गयी। वह सचमुच परास्त हो गया था, अन्य से नहीं, अपने आप से। वह एक निर्दोष बच्चे की इस तरह हत्या नहीं कर सकता। वह लौट पड़ा।

अब उसके विचार दूसरी ही दिशा में दौड़ रहे थे। अपने कमरे में आकर उसने अपनी वसीयत निकाली और वह तेज़ी से लिखने बैठ गया।

नयी वसीयत के इन शब्दों को उसने रेखांकित किया :

"मेरी सारी सम्पत्ति यतीम बच्चों के पालन-पोषण के लिए खर्च की जाये, शशि को उसमें से पालन-पोषण का खर्च ही मिले, मेरी यही इच्छा है···"

दूसरे दिन मिसेज़ मजूमदार ने अपने पति को मेज़ पर सिर टेके पड़ा हुआ पाया।

राजेश के हाथ में एक 'चिट' थी, जिसमें लिखा था, शशि 'आर्टिफिशियल इंसेमिनेशन' की पैदाइश है···मैं उसे स्वीकार न कर सका···इसलिए ···इसलिए···उफ़,···ये उसकी ज़िन्दगी के शायद आख़िरी शब्द थे।

खिड़की के काँच से छनकर सुबह की किरण राजेश के शरीर पर पड़ रही थी, लेकिन वह निस्पन्द पड़ा था, एक बेजान आदमी की ज़िन्दगी में यों सदा मौत का अन्धेरा ही रहा है।

मादाम लांड्री

पकवासा रोड से उस सँकरी गली में प्रविष्ट होता हूँ कि इसी छोर पर एक कच्चे-से मकान के सामने दोहरे बदन की एक सुन्दर-सी औरत खिल-खिलाती हुई दिख जाती है। चार वर्ष बाद इस शहर में फिर आया हूँ तो जाने-माने स्थल, रास्ते एकदम नये अपरिचित-से लग रहे हैं। जिन स्थलों में कभी लम्बे बरस गुज़ारे थे, अब उन्हीं को कौतुकपूर्ण चाव से देख रहा हूँ। वह औरत एकाएक मुझे देखकर चौंक जाती है और फिर झेंपकर लम्बा-सा घूँघट खींच लेती है।

दोहरे बदन की वह सुन्दर-सी औरत निश्चय ही मुझे पहिचान गयी है। उसने यह जो खाट बिछा दी है, वह मेरी आवभगत के लिए ही तो है, पर··· पर······

मैं असमंजस में पड़ा हूँ।

कानों में परिचित भारी स्वर सुन पड़ता है, "बैठो न प्रतापी ! बहुत दिन बाद दिखे ?"

अब शंका की क्या गुंजाइश हो ? यह स्वर और यह अनोखा सम्बोधन—प्रतापी, दुनिया में मादाम लांड्री दो नहीं हैं, दो नहीं हो सकतीं।

लेकिन क्या यह वही मादाम लांड्री है, विश्वास नहीं होता।

खाट के एक कोने में सिमटकर बैठता हूँ कि दोहरे बदन की वह औरत, मेरी मेज़बान एकदम 'ही-ही-ही-ही' हँस पड़ती है, बोलती है, "अरे प्रतापी, तुम नहीं बदले। वैसे ही झेंपू हो।···ज़रा सुभीते से तो बैठो।"

अब घूँघट हट गया है और मेरे सामने एक चेहरा है, कपाल पर मोटा-सा गोल लाल टीका, मांग में सुहाग की मोटी-सी सिन्दूरी रेख।

"ज़माना नहीं बदला," मैं धीरे से कहता हूँ, "लेकिन तुम तो ऐसी बदली हो कि···"

उस साँवले चेहरे पर एकबारगी सुर्ख़ी फूटती है और वह चट् घूँघट खींच लेती है। तभी मकान के भीतर से किसी बच्चे के चीख़ने की आवाज़

सुन पड़ती है और वह औरत एकाएक व्यग्र होकर कहती है, "मेरी कसम, जाना मत ! चाय लेकर आती हूँ ।" और तत्क्षण हिरणी की तरह वह भागकर मकान के भीतर हो जाती है ।

मैं हतबुद्धि-सा बस देखता रह जाता हूँ—

...ठीक याद नहीं, शायद वह सन् तिरपन की शीत थी । मियाँ चन्दानी की फ़ार्मेसी की दूकान और खान का साथ, अवकाश के उन दिनों को ग़लत करने को यह वसीला था ! दूकान का मालिक वह चन्दानी यद्यपि एक शरणार्थी सिन्धी था, लेकिन बेहद मौजू आदमी था । मैं उसे चलता-फिरता अजायबघर कहता । वह अपने ग्राहकों में विशेष दिलचस्पी रखता, उसे अपने ग्राहकों के तीन पुश्तों की ख़बर रहती । वैसे सरकारी अस्पताल के सामने फ़ार्मेसी दूकानों की पूरी कतार है; लेकिन चन्दानी की दूकान कभी सूनी नहीं रहती । उन दिनों चन्दानी के ग्राहकों में एक कृशकाय अधेड़ उम्र की औरत थी, जिसकी आँखें सदा सुर्ख़ रहतीं और उनमें शरारत का भाव छाया रहता । उसकी आवाज़ अस्वाभाविक रूप से भर्राती थी । ढलती उम्र के बावजूद उसका व्यक्तित्व एक लोमड़ी की तरह चुस्ती और चालाकी से पूर्ण जान पड़ता । उसकी बातों में अजीब-सा अनूठापन होता और जाने कैसे उसे इतने व्यंगपूर्ण, बेलाग जवाब सूझते । अच्छे-अच्छे वाचाल भी उसका मुक़ाबला करने में बगलें झाँकते क्योंकि उसकी आँखों में जो शरारत का भाव रहता, वह अजेय-सा जान पड़ता । चन्दानी उससे बिल्कुल बेतकल्लुफ़ था ।

उसे देखते ही वह चिल्लाता, "हलो, हाउ डू यू डू ?" और बढ़कर उसे वह बाँहों में उठा लेता ।

मेरा दोस्त खान चन्दानी को छेड़ता, "साले, बुढ़िया से उलझा है । घर में बिठा क्यों नहीं लेता ?"

चन्दानी जवाब देता, "हम शरणार्थी आदमी, हमारा घर कहाँ ? और यह तो हमारे लिए सोने के अंडे देने वाली मुर्ग़ी है, इसको ज़िबह करने को कहते हो ?"

चन्दानी ठीक कहता था, वह औरत उसके लिए सोने का अंडा देने वाली मुर्ग़ी ही थी । उसकी दूकान में जितने ग्राहक आते थे, उनमें यही सबसे ज़्यादा 'टॉनिक' ख़रीदती । कोई हैरत में पड़कर उससे पूछता, "कितना पीती हो ?"

वह फ़ौरन जवाब देती, "मियाँ पीती ही नहीं, खाती भी मैं यही हूँ ।"

वह जितना कमाती थी, सब चन्दानी के गिरह में आ जाता। न जाने किसने उसको यह विचित्र नाम दिया था, मादाम लांड्री, जिसे उसने सहज रूप में स्वीकार कर लिया था। उसका असली नाम क्या था, शायद कोई नहीं जानता था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि उसका यह नामकरण एकदम उपयुक्त हुआ है, वह जाति की धोबी थी, अपनी आजीविका के लिए उसने यही पेशा अख्तियार कर रखा था। एक दिन उसने मुझसे कहा, "अरे प्रतापी, तुम तो इसी मोहल्ले में रहते हो ?"

मैंने कहा, "हाँ, तो······"

"यह कैसी बात है, तुम हमसे कपड़े नहीं धुलाते। बोलो, हम कब तुम्हारे घर आएँ ?"

मैं फ़ौरन कोई उत्तर न दे सका। असल वजह यह थी कि मैं उसे इतना विश्वसनीय नहीं समझता था। वह भाँप गयी। उसने फिर कुछ नहीं कहा, लेकिन मैं समझ गया, वह दुखी हो गयी है। बाद में एकान्त में मैंने चन्दानी से पूछा, "क्यों मियाँ, तुम्हारी यह मादाम लांड्री एतबार के क़ाबिल है, या नहीं ?"

चन्दानी ने कहा, "आज तक मैंने उसके खिलाफ़ कोई शिकायत नहीं सुनी। अपने पेशे के बारे में वह बड़ी ईमानदार है। काम भी ऐसा करती है कि जवाब नहीं। कभी काम लो, तो तुम ख़ुद समझ जाओगे।"

और एक दिन चार-छः कपड़े लेकर मैं ख़ुद ही उसके घर पहुँच गया था। मुझे देखकर वह तीखी आवाज़ में बोली, "आज इधर कहाँ भटक पड़े प्रतापी। लांड्री में जाओ। मैं कपड़े दबा बैठी तो ?"

मादाम लांड्री के चेहरे की गम्भीरता को लक्ष्य कर मैं अपना-सा मुँह लिए जाने लगा, तो वह खिलखिलायी, "अरे बुरा मान गये, प्रतापी ?"

यों वह मेरा काम करने लगी। उसका काम सचमुच बहुत बढ़िया था। लेकिन उस दिन बुआ बोली, "भैया, इस धोबन को तो छुट्टी दो।"

मैंने पूछा, "क्यों ?"

"बड़ी भ्रष्ट औरत है वह !" बुआ ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कहा। "शरीफ़ घर में उसका क़दम रखना भी ठीक नहीं।"

पुरुष जो बातें प्रयत्न करके भी मालूम नहीं कर पाते, औरतें वही बातें अपने ढंग से सहज ही मालूम कर लेती हैं। बुआ को जाने कैसे मादाम

लांड्री का पूर्व इतिहास मालूम हो गया था। शायद उसीसे उन्होंने पूछ लिया था। जो हो, उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि मादाम लांड्री दो मर्द छोड़ चुकी है। मर्द छोड़ने का कारण क्या था, यह तो वही जाने; लेकिन बुआ को यह ठीक नहीं जँचा था। वस्त्रों की तरह जो औरत मर्द बदल सकती है, उसके चरित्र का भला क्या एतबार, बुआ का यही तर्क था।

शाम को फ़ार्मेसी में मादाम लांड्री दिखी, तो मैंने यही प्रसंग छेड़ दिया, "मादाम, तुम कितने शौहर कर चुकी हो?"

"दो!" उसने निस्संकोच कहा।

मैंने हँसकर पूछा, 'अब कोई और नहीं करोगी?"

उसने कहा "नहीं, अब दिल खट्टा हो गया।"

मेरे इन बेतुके प्रश्नों का जवाब वह किस सहज ढंग से दे रही थी, उससे मैं उत्साहित हुआ; पूछा, "तुम अपने पहले शौहरों के पास क्यों नहीं रही।"

कठोर आवाज़ में उसने कहा, "साले हीजड़े थे जी! औरत की कमाई पर मौज करना चाहते थे।"

"वाह, क्या बात कही है, जियो!" खान एकाएक चिल्लाया; "मादाम, तुम इसी बात पर मेरी ओर से एक औंस पियो!"

क्षण-भर पूर्व मादाम लांड्री के चेहरे पर आक्रोश की जो छाया घिर आई थी, वह दूर हो गई। 'टॉनिक' का घूँट हलक़ से नीचे उतारते हुए वह बोली "अपना कमाना, अपना खाना! मैं किसी कमीने की बाँदी नहीं हूँ। हा……हा……।"

वह ऐसी ही ज़िंदादिल औरत थी। बुआ के एतराज़ करने पर मेरे घर उसका आना-जाना अवश्य बंद हो गया, लेकिन मेरा काम वह करती रही।

दो वर्ष बीत गये। इधर वह फ़ार्मेसी पर बहुत कम दिखती थी। अफ़वाह फैली कि रंगसाज करीम उसके घर जब-तब दिखता है। शायद वे दोनों पहली बार फ़ार्मेसी में ही मिले थे क्योंकि रंगसाज़ करीम ने भी मद्यनिषेध के बाद देशी शराब की अपनी लत को 'टॉनिक' पर सन्तुष्ट कर रखा था। वह दो-एक औंस चढ़ा लेता, तो ऊंचे स्वर में कोई कहानी सुनाने लगता जिसको वह आप-बीती का रूप देता। हमें यक़ीन रहता कि वह आप-बीती नहीं, लतीफ़ा है; तथापि हम उसे न छेड़ते। वास्तव में करीम बात बहुत रोचक ढंग से कहता, ख़ास तौर से जब उसके जिस्म में 'टॉनिक' की गर्मी होती। उसे जाने कितनी शायरी कंठस्थ थी, अपने बयान में शायरी के उपयुक्त उद्धरण

वह नगीनों की तरह जड़ता। अक्सर उसके लतीफ़े किसी औरत से सम्बन्धित होते जो बग़दाद की शाहजादी-सी हसीन होती और संयोगवश जो करीम पर आसक्त होती। (तथ्य यह की इतने प्रणय-सम्बन्धों के बावजूद बेचारा निपट एकाकी था!) एक बार वह ऐसा ही कोई लतीफ़ा बयान कर रहा था। उस की आँखों में मादक सपने उभर आये थे और उसका स्वर जैसे किसी पहाड़ी की ऊँचाई से गूँजता हुआ आ रहा था। वह अपने में खोया हुआ था लेकिन यह समा एकाएक ही टूट गया। मादाम लांड्री खिलखिला रही थी। करीम ने उसे क्रुद्ध दृष्टि से घूरा किन्तु उसकी हँसी नहीं रुकी। हँसते हुए ही वह बोली, "मियाँ, कभी अपनी सूरत आईने में देखी है?"

उस दिन के बाद हम यह महसूस करते कि मादाम लांड्री को देखते ही करीम की ज़बान को जैसे काठ मार जाता; उसका लतीफ़ों का ख़ज़ाना जैसे चुक जाता! वह चुप हो जाता।

फ़ार्मेसी में जब करीम और मादाम लांड्री दोनों होते, तब एक अजीब सा नाटकीय दृश्य उपस्थित रहता क्योंकि ऐसे समय मादाम लांड्री बहुत वाचाल रहती जिसमें हमें कभी-कभी अस्वाभाविकता दृष्टिगोचर होती।

और करीम को लेकर मादाम लांड्री के बारे में अफ़वाहें फैलीं, बौआल मचा, लोगों ने इस मामले को साम्प्रदायिक रूप दिया यानी अब यह मालूम हुआ कि मादाम लांड्री की भी एक जाति है, हिन्दू!

मैंने इन अफ़वाहों को कभी गम्भीरतापूर्वक नहीं देखा था। मादाम लांड्री जिस अवस्था से गुज़र रही थी, उनमें इन अफ़वाहों का आख़िर क्या महत्त्व?...पर इस सम्बन्ध में मेरा अंदाज़ शायद ग़लत था। बात यूँ हुई कि चन्दानी ने अपनी आदत के अनुसार एक दिन मादाम लांड्री का स्वागत करते हुए उसे बाँहों में भरना चाहा तो वह छिटककर दूर खड़ी हो गयी जैसे चन्दानी कोई शोहदा हो! कड़कती आवाज़ में उसने उसे झिड़का, "मियाँ ज़रा तमीज़ सीखो, मैं तुम्हारी ज़र-ख़रीद बीवी नहीं हूँ जो इस क़दर लपकते हो!"

चन्दानी का चेहरा सफ़ेद पड़ गया था, काटो तो खून नहीं। मुझे याद है, इस घटना का प्रभाव उस पर कई दिनों तक रहा। कई दिनों तक उसके चेहरे पर मुस्कान न दिखी।

मादाम लांड्री का वह स्वाभिमान—

अब वह चन्दानी की फ़ार्मेसी पर आती तो चन्दानी उसके साथ बहुत

अदब से व्यवहार करता। पहले वह 'टॉनिक' दूकान में ही पी लेती थी, लेकिन अब वह उसे अपने साथ ले जाती और मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ, वह अपना नशा कम करने की पूरी कोशिश कर रही थी। वह अनिच्छा से ही 'टॉनिक' ले जाती थी। उसका वश चलता तो शायद वह एकदम यह नशा छोड़ देती लेकिन उसे जीने के लिए उसकी आवश्यकता थी। बिना उसके वह इतनी शक्ति नहीं जुटा पाती थी कि अपनी रोज़ी, रोटी कमा सके।

...शायद यह कोई पड़ौसिन है, जो पुकार रही है, "ओ हरकिशन की माँ!"

एक सन्देह मेरे मन में उठता है, मादाम लांड्री ही क्या अब हरकिशन की माँ है?

वह औरत मकान में से निकलती है—एक हाथ में चाय का गिलास लिये और दूसरे हाथ से बच्चे को सम्भाले।

चाय का गिलास वह मेरी ओर बढ़ाती है और एक गृहस्थ औरत की तरह द्वार से टिककर बैठ जाती है। अपनी आदत के अनुसार मैं उसे सम्बोधित करता हूँ, "मादाम लांड्री!"

तो वह फ़ौरन टोक देती है, "छिः मादाम लांड्री नहीं, लोग अब मुझे हरकिशन की माँ कहते हैं!"

"हाँ, ठीक कहती हो!" संकोच-सहित मैं पूछता हूँ, "हरकिशन के पिता कहाँ हैं?"

"वह यहाँ नहीं रहते।"

इस क्षण मुझे याद आता है कि मादाम लांड्री पहले भी दो मर्द छोड़ चुकी है, शायद यह तीसरा भी.........मैं पूछता हूँ, "तो क्या यह सम्बन्ध भी नहीं निभा?"

"इस सम्बन्ध के टूटने की तो कोई बात नहीं है," वह अपने बच्चे की ओर संकेत कर गम्भीरतापूर्वक कहती है, हमारे बीच यह गाँठ है, वह भला कैसे टूट सकती है?"

मेरी दृष्टि उस बच्चे की ओर घूम जाती है। अपनी माँ की गोद में किलकता वह गोल-मटोल बच्चा सच मानो, उस क्षण मुझे एक गाँठ ही दिखता है, प्रेम की सशक्त गाँठ!

हाँ, इस गाँठ ने ही मादाम लांड्री को इतना बदल दिया है।

चौराहे पर चन्दानी मिला है। वह कह रहा है, "मादाम लांड्री की बात मत पूछो यार। बड़ी जीवट की औरत है। कोई रस्म-रिवाज किया नहीं लेकिन कहती है, करीम मेरा मर्द है, मेरे बेटे का बाप है!"

चन्दानी से मैं कुछ नहीं कह पाता लेकिन मन में सोचता हूँ, मादाम लांड्री झूठ तो नहीं कहती। सचाई के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता?

एक वासन्ती रात

उसके बात करने के ढंग से एक बार फिर मुझे सन्देह हुआ। वह अत्यन्त धीमी आवाज़ में, अजीब-से सहमे लहजे में बोल रहा था जैसे अपने शब्दों से स्वयं ही डर रहा हो ! उसके हाव-भाव में जो असामान्य संकोच था, उससे मैं अप्रभावित न रह सका। लेकिन मैं मनोवैज्ञानिक नहीं हूँ जो इस बात को तूल देता, उसकी जड़ तक पहुँचने की चेष्टा करता। मैंने अपने मस्तिष्क में जमती सन्देह की गर्द को झटक डाला और मैं उसकी हर बात, हर शब्द पर विश्वास करने को प्रस्तुत हो गया।

आसमान में आज भी बादल की टुकड़ियाँ छितरी हुई थीं। कल हल्की-सी बूँदा-बाँदी हुई थी और गुज़रता जाड़ा एक बार फिर लौट पड़ा था। हवा में हिमालयी बर्फ़ का असर था जो जिस्म को बेधकर दिल को छू जाता था। जवान रगों के गर्म खून को उस समय नगर की रोशन सड़कों पर अकेले ही भटकने में जाने कैसा अनिर्वचनीय सुख अनुभव हो रहा था कि सड़क के किनारे की गुमटियों की दूकानें उठ जाने के बाद भी क़दम घर की ओर न बढ़ रहे थे। आसमान पर छायी बदलियों को एकटक देखते हुए ख़याल आया, यदि ये बदलियाँ बरस पड़ें तो...न रेनकोट है, न छाता, बस भीगना पड़ेगा। इस विचार के साथ ही शरीर में हल्की-सी झुरझुरी दौड़ गयी और अब तो सच-मुच इच्छा होने लगी, बूँदें गिरें, तन भींगे ! पर...

बादल की टुकड़ियों ने वासन्ती रात की रंगीनी में असाढ़ की स्याही बिखेर दी थी और मधुमक्खियों के छत्ते की तरह रात-दिन मुखरित रहने वाली यह 'रूट नम्बर वन' आज पहले पहर में ही सूनी और उदास हो गयी थी। सिटी पोस्ट आफ़िस के बाज़ू की गली के क़रीब पहुँचा तो डाक-जीप के पीछे से एक गन्दा-सा व्यक्ति निकल आया। दो क़दम आगे बढ़ते ही पहिचान गया, वह जुगनू है, वार्ड-बाय जुगनू। वह उस समय वर्दी नहीं पहने था, मैले-से निजी कपड़े पहने था। जिन्हें पहनना नहीं, ओढ़ना कहना बेहतर होगा। उस दयनीय व्यक्तित्व में वह असमय ही बूढ़ा और मरीज़ दिखता था, गो वह पूर्णतः स्वस्थ और युवा था।

मैंने कल्पना की कि वह ऐसे ही कुशल-क्षेम पूछने आ खड़ा हुआ है।

"अच्छा चलें!" कहकर मैं बढ़ने को उन्मुख हुआ, पर शायद उसने मेरी बात सुनी नहीं या शायद सुनकर भी समझी नहीं।

वह अपनी ही धुन में बोला—"तो बहिनजी यहाँ नहीं है।"

बहिनजी यानी मेरी पत्नी!

वह एम० वाच० हॉस्पीटल में वार्ड-बाय था, जहाँ मेरी पत्नी पिछले वर्ष एक मानसिक रोग से पीड़ित होकर छह माह रह चुकी थी। जुगनू ने उन दिनों मेरी बहुत मदद की थी और तभी से उससे मेरी दुआ-सलाम होने लगी थी। वह मुझे एक सहृदय और सज्जन व्यक्ति जान पड़ा था। जब मैं पत्नी को लेकर अस्पताल से विदा होने लगा था, तब मैंने उसे काफ़ी इनाम दिया था और घर आने के लिए कहा था। वह घर तो कभी नहीं आया, लेकिन इसी रूट पर अक्सर मिल जाता और ख़ास दिलचस्पी से पत्नी की ख़ैर-ख़बर पूछता। लेकिन आज जब उसने वही एक प्रश्न तीसरी बार दुहराया तो मुझे अस्वाभाविक लगा। मैंने घूरकर उसके चेहरे को देखा, पर वहाँ तो सदा की तरह निरीहता का भाव था। मैंने कहा—"हाँ भाई, तीन माह से मैके में हैं।"

"तब तो आप बड़ी मुसीबत में होंगे? आप का जैसा जवान..." उसने शायद मुक्त होकर हँसना चाहा, लेकिन उसके मुँह से जो हँसी फूटी, वह अत्यन्त फीकी थी—नक़ली और निर्जीव।

उसका संकेत समझकर मैं हँसा—"मुसीबत की कुछ न पूछो!"—मैंने कहा—"इस माह से व्रत चल रहा है।"

वास्तव में उन दिनों, उस परिस्थिति में मैं ऐसा ही ढीठ हो गया था। मैंने हँसते हुए कहा—"कोई हो, तो बताओ।"

"हाँ है।"

मुझे सन्देह हुआ, वह मज़ाक तो नहीं कर रहा, लेकिन नहीं, वह पूर्णतः गम्भीर था। वह मुझे राजवाड़ा[1] के सामने खड़ी गुमटियों की ओट में ले आया और अजीब-सी खरखराती आवाज़ में बोलने लगा—पड़ोस में एक जवान औरत है—मोटी-ताज़ी, मस्त! गोरी और हसीना ब्याहता है। मगर उसका आदमी सुस्त और ढीला है। वह किसी जवान बाबू से आशनाई करना

---

१. इंदौर के मध्य में स्थित भूतपूर्व होल्कर महाराजाओं का महल।

चाहती है। इज्ज़तदार औरत है बेचारी ; और ऐसा ही इज्ज़तदार आदमी चाहती है जो उसकी इज़्ज़त का ख़याल रखे। सो आप……"

कोई औरत किसी मर्द को इस तरह अपना इरादा बता दे, यह मुझे कुछ विचित्र-सा लगा। आख़िर उस मर्द का उस औरत से कैसा सम्बन्ध होगा ? मैंने जुगनू को सन्देह-भरी नज़र से घूरते हुए कहा—

"तुम्हारे तो पौ बारह हैं ! तुम……"

"मैं ?" वह जैसे चौंककर बोला—"हम लोग क्या आशनाई करेंगे, बाबू ! हम फटेहाल लोग !"

"हूँ !"—मैं किन्हीं विचारों में खो गया।

उसने किंचित तेज़ आवाज़ में कहा—"कहिए, मिलेंगे उससे ?"

"नेकी और पूछ-पूछ !"—मैंने उत्साहित होकर कहा—"बोलो, कब मिलाते हो ?"

"आज, अभी !"

"कहाँ चलना होगा ?"

"क्यों, मेरे घर आ जाएगी वह । मैंने सब तय कर लिया है, आपको कोई दिक्क़त नहीं होगी। चलिए……"

"नहीं आज नहीं, फिर कभी चलेंगे!" —मैंने नहीं सोचा था, वह अभी चलने को कहेगा।

मैंने टालना चाहा लेकिन उसने हठ किया—"आज आप कम-से-कम उसे देख तो लीजिए। आइए…"

आकाश में बदलियाँ घनी हो गयी थीं और ठंडी हवा के तेज़ झोंके चलने लगे थे। जुगनू—मैंने ग़ौर किया, यूँ सिहर-सिहर जाता था जैसे नदी के ठंडे जल में नग्न खड़ा हो । वह जो पैजामा-कुरता पहिने था, उसमें जगह-जगह सुराख़ थे जिनमें से उसका साँवला शरीर झाँक रहा था। उसने सीने पर अपनी बाँहें कस ली थीं, और सूँ-सूँ करता हुआ, उछलता हुआ वह चल रहा था। तेज़ी से चलकर, कई नद-नाले फाँदकर हम एक सँकरी-सी गली में घुसे। वह एक गन्दी बस्ती थी जिसमें झुकी हुई झोंपड़ियाँ, चीथड़े-चिन्दियों के उड़ते परचम, व्यंगचित्रों-सी अजीब शकलें देखकर मन वितृष्णा से भरा जा रहा था, पैर बँधे-से जा रहे थे।

गली के दूसरे सिरे पर आकर, एक कच्चे मकान के सामने जुगनू रुक गया। म्युनिस्पैलिटी की बत्ती वहाँ से फ़ासले पर थी और जहाँ आकर हम रुके, वहाँ ऐसा घुप्प अँधियारा था कि हमें अपनी ही आकृतियाँ, अपनी परछाइयाँ नज़र आ रही थीं। मुझे बाहर ठहरने का संकेत कर, जुगनू उस घर में घुसा। मैं अब वहाँ अकेला ही रह गया और अनेक भयावह कल्पनाओं में गुम हो गया। सच ही, उस क्षण मुझे वहाँ देखकर कोई चीख़ सकता था—भूत !

—मैं सोचने लगा, अभी भी लौट जाऊँ तो क्या बुरा है। मैं इस विचार पर गम्भीरतापूर्वक ग़ौर कर रहा था कि तभी जुगनू बाहर निकल आया। क़रीब आकर वह फुसफुसाया—"सब ठीक है, आप भीतर जाइए। मैं यहाँ हूँ।"

मैं फिर भी आगे न बढ़ा तो उसने व्यग्रतापूर्वक कहा—"जाइए न।" —और मुझे हल्का-सा धक्का दिया।

बाँस की फटकी हटाकर मैं एक तंग-सी कोठरी में पहुँचा। कोठरी अधिक गर्म नहीं थी क्योंकि वह जहाँ-तहाँ से खुली थी। उसके एक कोने में एक ढिबरी रखी थी जो रोशनी से अधिक धुआँ उगल रही थी, काला मटमैला धुआँ! कोठरी की दीवारों पर धुएँ की लकीरें खिंच गयी थीं। ढिबरी के क़रीब ही गठरी-सी रखी जान पड़ी जो कोठरी में मेरे क़दम रखते ही हल्के से हिल उठी थी।

मैं न जाने कितने क्षण यूँ ही मूक किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़ा रहा; फिर जैसे मुझे लगा, कोई तेज़-तेज़ धौंकनी चला रहा है। बाहर शायद आँधी उठी, कोठरी की फटकी खड़खड़ायी और आधी खुलकर बन्द हो गई। मैं उस औरत के क़रीब पहुँचा तो वह और भी सिमट गई। मेरे शरीर में रक्त-संचार तेज़ हो गया और मैंने उसके चेहरे पर से कपड़ा हटा दिया। उसे जाने क्या हुआ, हथेलियों में चेहरा छुपाकर वह एकदम सिसक उठी। मेरे अन्दर उमड़ता उत्तेजना का ज्वर यूँ उतर गया जैसे ट्यूब में कील चुभ जाए। मैं उस परिस्थिति के लिए हरगिज़ तैयार नहीं था। मैंने जल्दी से कहा—"तुम रो क्यों रही हो? मैं अभी चला जाता हूँ।"

और सचमुच ही मैं लौटने को उन्मुख हुआ।

"नहीं, आप जाइए नहीं ।" उसने मेरी ओर आँख उठाकर देखा तो मैं हतप्रभ रह गया। उसका शरीर दोहरा ज़रूर था, लेकिन चेहरा एकदम निस्तेज था, रूखा, सूखा, हड्डियाँ उभरी हुईं। उसमें न जवानी का मद था, न रूप का लावण्य। उसकी आँखों में मैं मुस्कान की शराब पाना चाहता था, लेकिन वहाँ तो बेबसी के आँसू थे। उसने जल्दी से अपनी फटी साड़ी के मैले पल्लू से आँखें पोछीं और बोली—"आप बैठिये, आप जाइये नहीं। आप ऐसे ही चले जायेंगे। तो वे···"

"वे कौन ?"—मुझे षडयन्त्र की गंध महसूस हुई और मैंने उद्विग्नता-पूर्वक पूछा—"हाँ बताओ, वे कौन ?"

"धुत्, मैं उनका नाम कैसे ?"—उसकी नज़र ज़मीन में गड़ गयी और वह चुप हो गयी ।

ओह, मेरा सन्देह ठीक था ।

सारा मामला प्रकाश की करण की तरह स्पष्ट हो गया तो मैं भौंचक रह गया। मैंने कहा—"लेकिन आख़िर उसने ऐसा क्यों किया ?···वह इतना······"

"नहीं, मैंने ही कहा था—सिसकते हुए वह बोली—"मुझसे देखा नहीं गया तो···शहर में इतनी ठंड पड़ रही है, खून जमा जाता है और उनके पास एक गर्म कपड़ा तक नहीं। यूँ मरा भी तो नहीं जाता, बाबू। हम···"

उस औरत की बाक़ी बातें सुनने के लिए मैं वहाँ रुका न रह सका। गली में आकर मैंने चारों ओर नज़र दौड़ाई, लेकिन वहाँ जुगनू कहीं न दिखा। न जाने वह कहाँ चला गया था। अन्धड़ के साथ बूँदा-बाँदी अब फिर शुरू हो गई थी और गली पार करते तो वर्षा तेज़ हो गयी। उस तेज़ वर्षा का शायद मुझ पर कोई असर नहीं हुआ। मैं आहिस्ता-आहिस्ता अन्धेरे नगर में जाने कितनी देर यूँ चलता रहा जैसे कोई लम्बे-चौड़े क़ब्रगाह में प्रेत घूमे और वह प्रेत अन्य कोई नहीं, मैं था···संवेदन-शून्य, मुक्त मैं···

नमूने

सरकारी अफ़सरों की जब सचमुच ही कोई गम्भीर बैठक जमी हो, तब आसानी से ताड़ा जा सकता है कि चर्चा का मुद्दा सर्वथा ग़ैर-सरकारी, निजी है ! सहायक पारखी चूंकि तेज़ है, यह जानता है । वह उस समय स्वयं को अधिक से अधिक चुस्त और क़ाबिल साबित करने के लिए फिरकनी-सा दौड़ रहा था । बात क़तई मामूली नहीं थी क्योंकि कठिनतम परिस्थितियों में भी शान्त और सुप्त बने रहने वाले, प्रकाशन-कार्य के बीस वर्षों के अनुभवी विभागीय जन-सम्पर्क अधिकारी मिस्टर जौहर का इस बार दिमाग़ चकरा गया था । उन्हें ख़याल होता कि अभी तक तो नौकरी बेदाग़ रही लेकिन इस मामले में···वह जानते हैं, ऐसे ख़ासगी मामलों में ही अच्छों-अच्छों की मट्टी पलीद हो जाती है । ताज़ा उदाहरण नौरेना साब का था जिनकी 'कान्फीडेन्शियल' महज़ इसलिए ख़राब हो गयी थी कि 'चीफ़' की पिछली 'बर्थ-डे पार्टी' में वे शरीक नहीं हुए थे ।

साँझ की अन्तिम किरण 'पोर्च' के कंगूरों से उड़ चुकी थी; लेकिन दफ़्तर उसी तरह लगा था, हर एक बाबू अपनी कुर्सी पर था । अफ़सरों के जाने के पूर्व बाबू लोग भला दफ़्तर कैसे छोड़ते ? जाने कब कैसी ज़रूरत आन पड़े ! मामले की संजीदगी में, किसी को, घिरते अँधेरे का, शायद, एहसास नहीं था । उस स्याह कमरे में वे पाँच 'चीफ़', दो 'डिप्टी' और दो 'क्लास टू' अफ़सर गम्भीर मुद्रा में बैठे एक-दूसरे का चेहरा उलूक-दृष्टि से घूरने का यत्न कर रहे थे । कमरे में अचानक ही जब 'ट्यूब लाइट' की रोशनी हो गयी तो "चीफ़' मिस्टर दत्ता ने 'स्विच' से हाथ हटाते पारखी को प्रशंसा-भरी नज़र से देखा । पारखी के पूरे शरीर में ख़ुशी की रेशमी फुरफुरी दौड़ गयी ।

इसी समय भण्डारी साहब ने 'हैण्डबैग' में से एक गुलाबी लिफ़ाफ़ा निकाला और उसे 'चीफ़' के सामने मेज़ पर सगर्व रखते हुए वह बोले, "साब, एक नमूना यह भी है ।"

मेज़ पर पहले ही दस-बारह नमूने पड़े थे—हरे, नीले, पीले, लाल, ऊदे । उन रंग-बिरंगे कार्डों के अम्बार पर वह गुलाबी लिफ़ाफ़ा घूँघट से ढँकी किसी

रूपसी की तरह बैठ गया। क्षण-भर के लिए वातावरण एकदम स्तब्ध हो गया। साँस रोके 'डिप्टी' लोग लिफ़ाफ़े के खुलने की प्रतीक्षा करने लगे। 'चीफ़' मिस्टर दत्ता एक कुशल आई० सी० एस० की तरह शिष्ट ढंग से मुसकुराये। अपनी पतली उँगलियों से उन्होंने भण्डारी साहब का लिफ़ाफ़ा यूँ उठाया जैसे वह लिफ़ाफ़ा नहीं, घूँघट हो!

भण्डारी साहब की खोपड़ी पर से किश्तीनुमा टोपी एक ओर खिचकर झुक गई और 'ट्यूब लाइट' की हलकी नीली रोशनी में ताँबे की पतीली-सी उनकी खोपड़ी चमकने लगी थी। वैसे, भण्डारी साहब व्यक्तित्व को सँवारने के आधुनिकतम अमरीकी फ़ार्मूलों से पूर्णत: विज्ञ हैं और सदा सतर्क रहते हैं कि टोपी की नोक तथा 'स्नो' की तह में फ़र्क न पड़े। लेकिन आज वह अपेक्षाकृत उत्तेजित और असन्तुलित थे। निकट-भविष्य में एक 'क्लास वन' ओहदा रिक्त होने वाला था जिस पर हक़ तो मिस्टर जौहर का था लेकिन भण्डारी साहब अच्छी तरह जानते हैं कि इस क़ानून के ज़माने में भी भैंस उसी की होती है जिसके हाथ में लाठी है, खुशामद की लाठी। जौहर साहब हज़ार 'सीनियर' हों, होगा वही जो 'चीफ़' चाहेंगे, और 'चीफ़' क्या चाहेंगे, यह कई बातों पर निर्भर है—इसीलिए भण्डारी साहब पिछले तीन दिन और तीन रात नगर के गली-कूचों में कोलम्बसी उत्साह से घूम-फिर कर ये छह नमूने लाये थे। पाँच नमूने 'चीफ़' को नहीं जँचे, तो अब इस छठे नमूने पर ही उनकी आशा केन्द्रित थी।

लिफ़ाफ़े में से एक सुनहरी रंग का कार्ड उछल आया जिसका विलक्षण रूप-रंग देखते ही डिप्टियों और मिस्टर जौहर की आँखों में भण्डारी के प्रति ईर्ष्या का भाव तैर गया जिसे भण्डारी ने अपने ढंग से सराहना का 'सर्टि-फ़िकेट' समझा! कार्ड एक कमल की तरह था,—नुमाइश में रखने योग्य! अफ़सर लोग अपनी राय व्यक्त करने की अपेक्षा अनुशासित व्यक्तियों की तरह 'चीफ़' की राय जानने के लिए उत्सुक हो गये।

'चीफ़' मिस्टर दत्ता पिछले सात वर्षों से महकमे के सदर हैं और उन्होंने अब तक स्वयं को उन सब गुणों से विभूषित कर लिया है जो एक 'चीफ़' में होने चाहिएं। वह मितभाषी हैं और अपनी राय (जो वास्तव में निर्णय होता है) अन्तिम समय के लिए सुरक्षित रखते हैं। पैदाइश से वह एक बंगाली थे, पर बाद में मिशनरी के आर्थिक प्रलोभन को स्वीकार कर ईसाई हो गये। यूँ, वह अपने देश में ही विदेशी हैं और गो एक हिन्दी-भाषी राज के अफ़-

सर हैं पर अपनी श्रेणी के दूसरे अफ़सरों की भाँति अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी अंग्रेज़ियत के रहनुमा हैं। कार्ड के नमूने को देखकर वह आदतन हलके-से मुसकुराये। उनकी पतली उँगलियाँ उस सुनहरे कार्ड से खेल रही थीं। उन्होंने एक ख़ास अन्दाज़ में अपने दायीं ओर प्रश्नार्थक दृष्टि डाली तो उस ओर बैठे 'जूनियर डिप्टी' जो 'चीफ़' के चेहरे के भाव को खुली किताब की तरह पढ़ लेने के आदी हैं, नम्र स्वर में बोले, "जी, अच्छा तो है !"

मिस्टर दत्ता बायीं ओर मुख़ातिब हुए। उस ओर बैठे 'सीनियर डिप्टी' ने अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप मोर की तरह गर्दन फुलाकर संकेत किया, ठीक है।

भण्डारी साहब सामने जौहर के क़रीब मचान पर चढ़े शिकारी की तरह चौकन्ने बैठे थे। डिप्टियों की सहमति पाकर झूम उठे। वह आत्म-प्रशंसा करने से अब अपने को रोक न सके, "साब, यह कार्ड सर रतनचन्द की बेटी के विवाह के मौक़े पर बाँटा गया था पारसाल। मुझे तो ख़याल ही नहीं था, वह तो मिसेज़ ने रख छोड़ा था अपने 'आरनामेन्ट केस' में। उन्हें वह ऐसा पसन्द आया कि······"

'चीफ़' ने मिस्टर जौहर की ओर रुख़ किया, "कहिए जौहर साब ! आपका क्या ख़याल है ?" वह इस मामले में जौहर को ही विशेषज्ञ मानते थे।

मिस्टर जौहर प्रेमचन्द के समकालीन साहित्यिक व्यक्ति हैं और यद्यपि सरकारी नौकरी की मख़मली सेज पर आकर उनका साहित्यकार मानस एकदम प्रसुप्त हो गया है, तथापि वह आज भी साहित्यकार होने का गौरव अनुभव करते हैं। वह एक दूरदर्शी व्यक्ति हैं और बात अक्सर ऐसी दो-अर्थी कहते हैं जिसका जो चाहे, अपने अनुकूल अर्थ निकाल ले। अफ़सरों की इस महफ़िल से अब तक वह बुरी तरह ऊब गये थे। यदि यह मामला सीधे उनसे ही सम्बन्धित न होता तो वह कभी के जा चुके होते। उन्होंने हवा का रुख भाँप कर अपने साहित्यिक अन्दाज़ में कहा, "इसमें कलात्मक सौष्ठव तो है और उच्च-कोटि की अभिरुचि भी लेकिन······"

'चीफ़' ने मिस्टर जौहर की बात पूरी सुनने के लिए अपनी गर्दन आगे बढ़ा दी। मिस्टर जौहर ने खँखारा, गला साफ़ किया और, इस बीच बहुत कुछ सोच लेने के बाद, वह बोले, "लेकिन समय कम है, यदि मौक़े पर ये कार्ड तैयार न हुए तो······"

मिस्टर जौहर ने वास्तव में एक तकनीकी कठिनाई प्रस्तुत कर दी थी। 'चीफ़' सचमुच चिन्ता में पड़ गये—यदि मौक़े पर कार्ड न मिले तो क्या फ़ायदा ?

भण्डारी साहब ने जौहर को एकबारगी तीखी नज़र से घूरा। उन्हें जौहर साहब की टीका बहुत अनुचित लगी थी—आख़िर 'चीफ़' का काम है, कोई मज़ाक है, रातों-रात होगा ! वह बोले, "साब, इसमें देर-अबेर की क्या बात ? हुक्म दें तो मैं चौबीस घण्टे में तैयार करा दूँ। यहाँ न होगा, प्लेन से बम्बई चला जाऊँगा।"

"मगर उसका ख़र्च……" मिस्टर जौहर को अचानक महसूस हुआ कि उनके मुख से कोई भौंडी बात निकल पड़ी है क्योंकि 'चीफ़' के अलावा वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों की भृकुटियाँ तन गयी थीं। बाक़ी बात जौहर साब के कण्ठ में फँसी ही रह गयी।

आगामी सप्ताह 'चीफ़' की बेटी का विवाह था और चूँकि वह 'चीफ़' की प्रतिष्ठा का प्रश्न था, इसलिए वह महकमे की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। महकमे का हर व्यक्ति—चपरासी, बाबू, अफ़सर—उसे 'टाप प्रायरटी' मानकर कर रहे थे। 'चीफ़' को अपने मातहत अधिकारियों और कर्मचारियों की कर्त्तव्यपरायणता पर विश्वास था, इसलिए इस सारी दौड़-धूप, चहल-पहल में वह मानो दर्शक हों, एक तरफ़ खड़े थे। उनके अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों ने सारा काम हाथों-हाथ बाँट लिया था और वे इस मुस्तैदी से उसे कर रहे थे जैसे उनकी अपनी बेटी का ब्याह रच रहा हो ! दफ़्तर में नयी फ़ाइलें खुल गयी थीं—विवाह-सम्बन्धी फ़ाइलें ! 'टाप प्रायरटी' फ़ाइलें !!

बेटी के विवाह में प्रत्येक कार्य महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन 'डिप्टी' लोगों की राय थी कि निमन्त्रण-पत्र से अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कार्य नहीं। उनकी दलील थी कि निमन्त्रण-पत्र से यह शुभ संस्कार प्रारम्भ होगा और शुरुआत बेहतर रही तो आधा काम हुआ समझो—पहला असर अच्छा होना चाहिए। पिछले चार दिनों से रोज़ शाम को इसी तरह 'चीफ़' के कमरे में महकमे के प्रमुख अफ़सरों की बैठक जमा करती थी। मिस्टर जौहर के भौंडे व्यवहार ने बैठक में जो तनाव ला दिया था, वह शायद देर तक बना रहता लेकिन इस बीच पारखी ने बढ़कर एलान किया, "कंचन साब आ गये हैं।"

वास्तव में पारखी की चुस्ती का ही यह प्रमाण था जो उसने यह

इत्तला दी, अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं थी—कंचन साब दरवाज़े पर उपस्थित थे।

"वेलकम, कंचन साब !" अपनी 'सीट' पर किंचित् उठने का उपक्रम करते हुए, उत्साहपूर्वक मिस्टर दत्ता बोले, "आपका ही इन्तज़ार था !"

"नमस्कार मोशाय !" कंचन साब दो-एक वर्ष कलकत्ता में रह चुके थे, इसलिए अपने सीमित बँगला-ज्ञान को प्रदर्शित करने से न चूकते। उनका ख़याल था कि इससे वातावरण हलका बनता है। मुक्त स्वभाव के बुज़ुर्ग कंचन साब के आ जाने से कमरे का वातावरण एकबारगी बदल गया—मनहूसी की तह को चीरकर उत्फुल्लता झाँक उठी।

मेज़ पर पड़े कार्डों के नमूनों पर एक उड़ती नज़र फेंक, मामले को समझ लेने के बाद भी सर्वथा उपेक्षा का रुख़ अख़्तियार कर 'चीफ़' के क़रीब एक कुर्सी पर बैठते हुए कंचन साब बोले, "कहिए दत्ता साब, मुझ जैसी तुच्छ हस्ती को कैसे याद किया ?"

जवाब सीनियर डिप्टी ने दिया, "कंचन साब, अब आप ही सुलझाइए इस मामले को।" और वह कार्डों के नमूने की ओर संकेत कर पूरा मामला समझाने लगे।

कंचन साब अधमुँदी आँखों से 'सीनियर डिप्टी' की बातें इस तरह सुनने लगे जिससे भ्रम हो सकता था कि वह पूरी एकाग्रता से बात सुन रहे हैं, लेकिन वास्तव में उस समय उनका ध्यान अन्यत्र था। वह पिछले पन्द्रह वर्षों से शासकीय मुद्रणालय के संचालक हैं और उनके सामने ऐसे मामले दिन में पच्चीस आते हैं। यदि ऐसे हर मामले को वह गम्भीरता-पूर्वक समझने लगें तो निश्चय ही चार दिनों में उन्हें पागलख़ाने में दाख़िल होना पड़े !

'सीनियर डिप्टी' जब अपनी बात कह चुके तो भण्डारी साब ने दो-एक नमूने कंचन साब की ओर बढ़ाये लेकिन कंचन साब ने उन्हें दूर से ही देख कर कहा, "हाँ-हाँ, देख लिये। रहने दीजिए। रोज़ ही ऐसे सैंकड़ों नमूने देखता हूँ।"

कंचन साब के इस निर्मम व्यवहार से भण्डारी साब मर्माहत हो गये ; लेकिन चेहरे पर दुगनी प्रफुल्लता का भाव लाकर उन्होंने फिर आग्रह किया, "अजी, आपने सैकड़ों नमूने देखे होंगे; लेकिन यह नहीं, यह लाखों में एक है !"

कंचन साब इस समय 'चीफ़' मिस्टर दत्ता से धीमी आवाज़ में सलाह-मशविरा कर रहे थे। भण्डारी की बात अरण्य-रोदन की तरह अनुत्तरित ही रह गयी।

'चीफ़' और कंचन साब शायद किसी निर्णय पर पहुँच गये थे क्योंकि उनके चेहरे सफलता की अनोखी झलक से दमक उठे थे। आख़िर 'चीफ़' मिस्टर दत्ता ने घोषणा की, "हम लोगों ने तय कर लिया। नाउ वि कैन डिसपर्स ! (हम लोग बिदा हो सकते है)।"

कंचन साब ने उपस्थित अफ़सरों के चेहरों पर उभर आये जिज्ञासा के भाव को समझ कर, अपने जोधपुरी कोट के भीतरी जेब से एक कार्ड निकाला और सबके सामने रखते हुए बोले, "मैं यह नमूना साथ ले आया था। सरकारी 'स्टाक' में यह कागज़ बहुत है, छाप देंगे। कानी-कौड़ी का ख़र्च नहीं !"

"जी यह तो बहुत अच्छा है", 'जूनियर डिप्टी' कार्ड देखते ही बोले, "कमिश्नर साब के यहाँ 'थ्रेड सेरेमनी' में यही बँटा था।"

'सीनियर डिप्टी' बोले, "जी हाँ, पी० एस० पी० के चेयरमेन साब की बेटी की 'मैरिज' में भी यही था।"

"यह आदर्श नमूना है !" मिस्टर जौहर ने मुक्ति की साँस लेते हुए एक विशेषज्ञ की राय दी, "यह सर्वथा उपयुक्त होगा।"

मिस्टर भण्डारी इस बदले हुए वातावरण में हक्के-बक्के रह गये। उन्हें सूझ नहीं रहा था कि इतने अच्छे नमूनों के बावजूद 'चीफ़' को कैसे वह घटिया नमूना पसन्द आ गया ?

'स्विच आफ़' करने के बाद पारखी उनके क़रीब आया और मेज़ पर पड़े नमूने समेटता हुआ फुसफुसाया, "नमूना बेहतर वही, जो मुफ़्त हो ! क्यों भण्डारी साब ?"

"हाँ, हाँ !" भण्डारी साहब ने हँसने की चेष्टा की, लेकिन दूसरे ही क्षण वह अनायास ही गम्भीर हो गये ; बोले, "ह्वाट, बड़े साब ग़लत निर्णय नहीं ले सकते।" यूँ, पिटा हुआ मोहरा बिसात को अभी भी दाँतों से पकड़े हुए था !

सेंध

साँझ का वक़्त था कि मोहल्ले में हो-हल्ला उठा।

मिस्टर सरन का पूरा परिवार छज्जे पर आ गया और उत्सुकता से देखने लगा कि माजरा क्या है।

घिस्सू नाई की दूकान पर भीड़ जमा थी। घिस्सू की जवान बहन का कहीं अता-पता न था। अभी-अभी घर में थी, अभी जाने कहाँ चली गयी ? घिस्सू औंधी-सूँधी गालियाँ बके जा रहा था और उसकी माँ सिर धुन रही थी। लोग उन्हें घेरे तरह-तरह की अटकलें प्रकट कर रहे थे। दो-एक लोग दबी आवाज़ में यह भी कह रहे थे, "लड़की को इस उम्र तक घर में बिठा रखने का यही तो नतीजा होता है।"

श्रीमती सरन ने अपनी पन्द्रह वर्षीया बेटी कामिनी को डँपटा, "जाओ, 'स्टडी' करो। यहाँ क्या देख रही हो ?"

कामिनी सहम कर भीतर चली गई।

इस मोहल्ले में सरन-परिवार का यों यह पहला ही दिन था।

घिस्सू नाई की दूकान से धीरे-धीरे भीड़ छँटने लगी थी। मिस्टर सरन ने कहा, "अजीब बेहूदा लोग बसते हैं इस मोहल्ले में।"

श्रीमती सरन बोलीं, "मुझे यह पहले मालूम होता तो मैं इस मुहल्ले में मकान न लेती।"

वह बेहद आतंकित हो गयी थीं। मिस्टर सरन ने उन्हें उत्साहित करना चाहा, "मोहल्ले से हमें क्या लेना-देना है ? मकान तो बढ़िया है। ऐसा मकान इतने कम किराये पर कहाँ मिलता।"

कुछ सोचती हुई श्रीमती सरन बोलीं, "लेकिन 'सोसाइटी' भी तो देखनी पड़ती है। ये उचक्के लोग······इसका असर बच्चों पर कैसा होगा ?"

"मैंने दोस्तों से कह रखा है, दूसरे मोहल्ले में कोई अच्छा-सा फ्लैट मिलते ही हम इसे बदल देंगे। तब तक······"

"इस मुहल्ले में तो चार दिन काटने मुश्किल हैं। खुले आम गुंडा-गर्दी······"

"मिस्टर सरन हल्के-से पत्नी की पीठ थपकाने लगे, कुछ बोले नहीं।

उस रात श्रीमती सरन ने नौकर को सचेत कर दिया कि दरवाज़े में मज़बूत ताला लगाये और बिस्तर पर पड़ने के पूर्व ख़ुद भी जाकर देख आई कि ताला ठीक से लगाया गया है या नहीं।

इसके बावजूद भी वह निश्चित होकर सो न पा रही थीं। कहीं ज़रा-सा खटका होता तो वह चौंक जातीं। यूँ करवटें बदलते वह रात ही नहीं, उनकी अगली रातें भी कुछ इसी तरह बीतीं।

मोहल्ले की गर्द-गुबार, आँक छीं···

डिसलवाजी ने जेब से रुमाल निकाल कर मुँह पर रख लिया और अजीब-सा मुँह बनाते हुए वह बोले, "यह सरन भी एकदम सिड़ी है। मैंने उसे समझाया था, हम 'फ़ैमिली' वाले लोग हैं, ऐसे मोहल्ले में नहीं रह सकते।"

"मैं आज तो आपके कहने से इधर आ गयी, पर आप अपने मित्र को तक़ीद कर दीजिये, वह घर बदल दें, वरना······"श्रीमती डिसलवा आवेश में आ गयी थीं।

बेबी ऊँची ऐड़ी के जूतों पर उछलती हुई चल रही थी और पूरे चौकन्ने होकर इर्द-गिर्द यह ग़ौर कर रही थी कि कोई फ़िकरा तो नहीं कस रहा। पान के ठेले पर ज़ोरदार ठहाका गूँजा तो चलते-चलते बेबी रुक गयी। मुड़कर उसने पान के ठेले के सामने खड़े लोगों को तीखी निगाह से देखा और रुआँसी आवाज़ में बोली "डे डी ऽ ऽ! ये लोग······"

मिस्टर डिसलवा ज़रा समझदार आदमी थे। उन्होंने पत्नी को रोका, अन्यथा वह जाने क्या बखेड़ा खड़ा कर बैठती!

चौक की पुलिया की ओट में जुआ जमा था। चार-छह खेलने वाले और क़रीब उतने ही दर्शक। दबा-दबा शोरगुल हो रहा था। डिसलवाजी पर उस्ताद फटीचर की निगाह पहले गयी और उनके मोटे हैट को देखकर वह भ्रम में पड़ गया। उसने पत्ते बिछावन के नीचे दबा दिये और साथियों को संकेत कर कहा, "शिः शिः! बड़े मियाँ पधार रहे हैं।"

बड़े मियाँ यानी पुलिस दरोगा, छोटे मियाँ यानी पुलिस जमादार। ·········क्षण-भर के लिए वहाँ मौत की शांति छा गयी, लेकिन जैसे ही डिसलवाजी अपनी पत्नी और पुत्री के साथ आगे बढ़ गये, उस्ताद फटीचर,

कान्हा और जम्मन पहलवान सभी हँस पड़े। उस्ताद फटीचर ने कहा, "सबको बुद्धू बनाया।"

"उल्लू !" कान्हा बोला, "खुद ही बुद्धू बना !"

जम्मन ने गंभीरता से पूछा, "कौन थे ये लोग ?"

"होंगे कोई मोटे मुर्गे।" किसी ने कहा।

बिछावन के नीचे से ताश के पत्ते निकल आये और जुआ फिर चालू हो गया।

श्रीमती सरन उत्सुकता से पूछ रही थीं, "फिर क्या हुआ, बेटी ?"

कामिनी, जो स्थानीय गर्ल्स स्कूल में दसवें दर्जे में पढ़ती थी, बोली, "लड़के तो शरारत पर आमादा थे, ममा ! उन्होंने मेरी साइकिल को घेर लिया था......"

साँस रोककर श्रीमती सरन ने पूछा, "फिर ?"

"वह तो अच्छा हुआ जो उधर से यह उस्ताद जी निकल पड़े। उन्होंने मुझे पहचान लिया और उन लड़कों को ऐसी घुड़की दी कि......"

"उस्तादजी कौन ?"

"यही अपने मोहल्ले के उस्ताद फटीचर।"

मिस्टर सरन को डिसलवा-परिवार आता दिख गया। वह दूर से ही चिल्लाये, "आइये डिसलवाजी, वेलकम।"

सोफ़े पर बैठते ही मिस्टर डिसलवा ने मोहल्ले का ज़िक्र छेड़ दिया।

मिस्टर सरन चौकन्ने हो गये। श्रीमती सरन ने कहा, "मुझे तो यहाँ एक क्षण काटना दूभर हो गया है। भय के कारण रात को नींद नहीं आती। हर समय खटका बना रहता है......"

तभी गली में शोरगुल उठा। सरन-परिवार के लिए तो यह शोरगुल अब नई बात न रही थी, लेकिन डिसलवा-परिवार उत्सुक हो गया। मिस्टर सरन के न चाहते हुए भी सब लोग छज्जे पर आ गये और वजह मालूम करने लगे।

शिवालय के सामने हाथ में लम्बा-सा भाला लिये घिस्सू नाई खड़ा ललकार रहा था। उसके इर्द-गिर्द उस्ताद फटीचर, कान्हा आदि मोहल्ले के लोग खड़े थे।

अब तक सन्तू भी घर से निकल आया था। उसके हाथ में नंगी

तलवार देखकर मिसेज़ डिसलवा के मुँह से चीख़ निकल गयी। घिस्सू भाला सँभालकर सन्तू की ओर लपका। लोगों ने दोनों को रोकने की कोशिश की। घिस्सू उछलता हुआ चिल्लाया, "आज इस सुअर का ख़ून कर दूँगा।"

इधर से सन्तू चिल्लाया, "तूने अपनी माँ का दूध पिया है?"

सन्तू को लोग समझाने लगे, "मुहल्ले में ही ऐसा करना ठीक नहीं। लड़की को घर से निकाल दो।"

सन्तू ने कहा, "लड़की की मरज़ी हो, तो वह जा सकती है, लेकिन मैं उसे जाने के लिए नहीं कहूँगा। मुझे उससे सच्ची मोहब्बत है।"

मिसेज़ डिसलवा की कनपटी तप्त हो गई। वह बोलीं, "कैसे बेहूदा लोग हैं ये। इनकी मोहब्बत भी आवारा कुत्ते-कुतियों जैसी है।"

घिस्सू लोगों की पकड़ से छूट निकला था। वह सन्तू के बिलकुल करीब पहुँच गया। दोनों ने अपने-अपने हथियार सँभाल लिये। घिस्सू सन्तू पर प्रहार करने वाला ही था कि पीछे से एक बूढ़े ने उसका हाथ पकड़ लिया।

घिस्सू चिल्लाया, "हट जाओ दादा, मैं आज इस सन्तू को नहीं छोड़ूँगा। इस सुअर ने हमारे ख़ानदान की नाक उतारनी चाही है।"

और उसने अपना हाथ खींचा, लेकिन उसका बूढ़ा बाप हाथ से चिपक गया था। इस बीच दूसरे लोग भी आ गये और उन्होंने घिस्सू को फिर पकड़ लिया। इस प्रकार एक 'ट्रेजेडी' अचानक ही टल गयी। लोग घिस्सू को खींचकर एक तरफ़ ले गये। जब घिस्सू हट गया तो सन्तू भी घर में घुस गया। फटीचर, कान्हा आदि पुलिया की ओट में बैठकर फिर जुआ खेलने लगे। दो क्षण बाद ही मोहल्ले में फिर शांति छा गयी।

सरन-परिवार से विदा होते हुए एकान्त में श्रीमती डिसलवा ने श्रीमती सरन से कहा, "मुहल्ले में ज़रा सावधानी से रहना बहन? तुम्हारे घर में भी जवान बच्ची है। ईश्वर न करे···"

उधर मिस्टर डिसलवा ने मिस्टर सरन को आश्वासन दिया, "जल्दी ही तुम्हारे लिए अपने मुहल्ले में मकान ढूँढ़ दूँगा। विश्वास रखो।"

लौटते हुए रास्ते में श्रीमती डिसलवा ने अपने पति से कहा, "मैं कहती हूँ, यदि सरन इसी मकान में रहे तो एक दिन हम ज़रूर ही कोई ऐसी-वैसी बात सुनेंगे। ताज्जुब नहीं कोई मकान में सेंध ही लगा दे···"

मिस्टर डिसलवा कोई बात कहने जा रहे थे कि रुक गये। सामने सड़क पर एक दुबला-पतला-सा आदमी लोट-पोट होकर अनाप-शनाप बक रहा था। डिसलवा-परिवार कतराकर आगे बढ़ने लगा, तो झूमते हुए वह आदमी उठा। डिसलवा-परिवार आशंकित हो गया।

"ओ मेम साहब !" कहते हुए वह आदमी श्रीमती डिसलवा की ओर लपका। श्रीमती डिसलवा अपने पति की ओट में हो गयीं। बेबी घबड़ाकर दौड़ने लगी। मिस्टर डिसलवा ने अपनी घड़ी सँभाल ली और उनकी ज़बान पर अंग्रेजी की दो-एक मोटी गालियाँ आ गयीं।

पर मोहल्ले के लोगों की नज़र पड़ गयी और कुछ लोग उस आदमी को पकड़ने दौड़े।

जब वह आदमी हटा दिया गया तब श्रीमती डिसलवा होश में आईं। उन्होंने पूछा, "यह क्या कोई पागल था ?"

"नहीं, मेरा ख़याल है, उसने पी रखी थी।"

"इस 'ड्राय एरिया' में इन्हें शराब कहाँ से आती है ?"

"शैतान हैं ! चोरी से ले आते होंगे।"

डिसलवा-परिवार जब तक उस मोहल्ले से बाहर न निकल आया, तब तक आशंकित ही रहा, जाने किस क्षण क्या हो जाए। उनके लिए ऐसे मोहल्ले का यह अनोखा ही तजुर्बा था, एक अविस्मरणीय अनुभव...

इसके बाद एक माह गुज़र गया।

मिस्टर डिसलवा वायदा करके भी सरन-परिवार के लिए अपनी सिविल लाइन्स में मकान नहीं ढूँढ सके। वहाँ अधिकांशतः सरकारी अफ़सर रहते थे। कोई अफ़सर तबादले पर जाता भी, तो उसकी जगह जो आता, वह पुराने अफ़सर के मकान पर कब्ज़ा जमा लेता।

श्रीमती सरन हर रोज़ अपने पति से पूछतीं, "कोई मकान मिला ?"

मिस्टर सरन जवाब देते, "कोशिश कर रहा हूँ।"

उस दिन दफ़्तर से लौटने पर मिस्टर सरन ने पत्नी का वही प्रश्न सुना, तो आशा के विपरीत उन्होंने जवाब दिया, "यही मकान ठीक है, हम अब दूसरा मकान नहीं खोजेंगे।"

श्रीमती सरन को सदमा-सा लगा और उनका चेहरा स्याह हो गया। उन्होंने वजह जाननी चाही तो मिस्टर सरन ने पूरा वाक़या ही सुना दिया :

आज वह मिस्टर डिसलवा से मिले थे जो बेहद परेशान थे। मिस्टर सरन को एकान्त में ले जाकर उन्होंने कहा, "भाई सरन, मुझे कोई डाक्टर या किसी दवा का पता दो कि हमल गिर जाय।"

मिस्टर सरन ने पूछा, "क्यों, क्या बात है ? कैसा हमल ?"

"ओह ! तुमसे क्या छिपाना सरन, मिस्टर डिसलवा ने करुण आवाज़ में कहा, "अपनी बेबी को..."

बेबी मिस्टर डिसलवा की बड़ी लड़की थी जो अब तक कुँवारी थी। मामला कुछ भाँपते हुए मिस्टर सरन बोले, "लेकिन आप उसीके साथ बेबी की शादी क्यों नहीं कर देते ?"

"वह मुकरता है।"

"क्यों ?"

"वह सेक्रेटरी वर्मा का बेटा ... तुम तो उसे जानते हो, पहले तो स्वीकार ही नहीं करता था, लेकिन जब बेबी ही सामने खड़ी हो गयी तब उसने माना । पर फिर भी वह विवाह नहीं करना चाहता। बोलता है, "कैरियर" चौपट हो जायगा। लेकिन मैं जानता हूँ यह उसकी धूर्तता है..."

"आप कोर्ट में केस चलाइये।"

"इससे क्या होगा ! ढंकी चादर उठ जाएगी और अपनी रही-सही इज्ज़त भी मिट्टी में मिल जाएगी ।"

"लेकिन..."

"लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। जब लड़के की इच्छा ही नहीं है तो ज़ोर-जबरदस्ती करने से लाभ ही क्या ? और यह बात यदि सेक्रेटरी साहब के कानों में पहुँच गई तो...तो...फ़जीहत मेरी ही है।"

यह वाक़या सुनते हुए श्रीमती सरन को घिस्सू नाई की बहन का काण्ड याद हो आया। इस काण्ड का प्रारम्भ यद्यपि बुरा हुआ था लेकिन अन्त सम्मान-जनक ही हुआ। लोगों के समझाने-बुझाने पर घिस्सू ने अपनी बहन का विवाह सन्तू के साथ कर दिया था।

मिस्टर सरन ने निश्चिन्त होकर कहा, "सेंध तो उस मोहल्ले में भी लग सकती है।"

श्रीमती सरन एकाएक कोई उत्तर न दे सकीं। उन्होंने उठकर कमरे की बंद खिड़की को खोल दिया। उस तरफ़ सड़क पर दो व्यक्ति शराब के नशे में धुत होकर बड़ी भद्दी गालियाँ बक रहे थे, लेकिन श्रीमती सरन को आज ये गालियाँ वैसी भौंडी न जान पड़ीं। एकाएक जाने उन्हें क्या सूझा, उन्होंने मिस्टर सरन का हाथ अपने हाथ में ले लिया और बोलीं, "सच बताना, क्या कभी तुमने भी ऐसी गालियाँ दी हैं?"

"क्या मतलब? मिस्टर सरन पत्नी के इस बदले हुए रुख़ को ज़रा देर बाद ही समझ सके। उन्होंने ठहाका मारा और बोले, "ओहो, यह बात है। सच कहूँ, जब मैं इतना-सा था···इतना-सा···तब इससे भी ज़ोरदार गालियाँ··· देता था और पापा हमें डाँटते थे फिर भी···"

"सच? बड़े शरीर थे, जी!" श्रीमती सरन इठलायीं।

"शरीर कैसे? हमें इनका मतलब क्या मालूम था उन दिनों।"

"अच्छा, ज़रा हम भी तो सुनें, कैसी गालियाँ देते थे आप उन दिनों।" श्रीमती सरन रस लेने लगी थीं।

"नहीं इस तरह नहीं।" मिस्टर सरन हँसकर बोले, "पहले अपनी बात कहो, कभी तुमने···"

"छी-छी", श्रीमती सरन झेंप-सी गयीं, बोलीं, "कैसी बातें करते हो, जी? क्या हम आप जैसे थे?"

"हाँ-हाँ, खूब जानता हूँ, कैसी थीं। ठहाके के साथ वे श्रीमती सरन को गुदगुदाने लगे।

और फिर कमरे में जो हँसी-ठहाके गूँजे, उसके शोर में बाहर से आती हर आवाज़ खो गयी। उस नये मकान में सरन-परिवार यों इतने दिनों बाद अपनी ज़िंदगी शुरू कर रहा था, उन्मुक्त ज़िंदगी, निश्चिंत और निर्बाध ज़िंदगी!

द्वीप के कगार

अपनी सँकरी छपरी में मिट्टी की गीली दालान पर एक पतली फटी-सी दरी बिछा राकेश जम गया। उसने लालटेन की रोशनी तेज़ की, काँच की कालिख में से कुछ प्रकाश छनकर काग़ज़ों पर पड़ने लगा।

कोठरी से मुन्ना की कराहें बराबर आ रही थीं। राकेश ने क़लम पकड़ी। हवा के तेज झोंके से दरवाज़ा एकाएक खुल गया, और एक ठण्डा स्पर्श राकेश की देह में कँपा गया। दूर कहीं दादुर बोला। पैरों के पीछे दरी पर फैला, राकेश तेज़ी से सोचने लगा, अपनी कहानी का कथानक। किसी भी हालत में आज तो कहानी पूरी करनी ही थी। बस, तीन दिन बचे थे प्रतियोगिता की अन्तिम तारीख़ के लिए।

"उफ़, यह सीलन।" राकेश ने शरीर को झटकारा। सुबह उसने एक बढ़िया 'प्रारम्भ' सोचा था, मगर इस समय वह याद नहीं आ रहा था। उसने करवट बदली, इर्द-गिर्द दृष्टि घुमाई। हारकर नये सिरे से कोई दूसरा 'प्रारम्भ' सोचना चाहा, मगर मस्तिष्क लौट-लौट कर उसी गुमी निधि को खोजने लगता था, उसी खोह में भटकने लगता था।

सीलन ने शरीर को बर्फ़ कर दिया था। राकेश ने पूरी दालान पर दृष्टि घुमाई। मगर कोई सूखा हिस्सा नहीं दिखा, कहीं कोई ऐसी जगह न थी जहाँ बैठकर वह मज़े से लिख सकता। बरसात में यह दालान ही क्या, समूचे घर और मुहल्ले के सारे कच्चे मकानों की दालानें सीलन भरी होती हैं।

सीलन के साथ होते हैं, मच्छर, और मच्छरों के साथ ज्वर······

माह भर से मुन्ना चारपाई पर पड़ा है। उसने खाना-पीना छोड़ दिया है। उसका गुलाब जैसा शरीर सूखकर काँटा हो गया है।

राकेश के कानों में शीशी के खनकने की आवाज़ पड़ी। मुन्ना दवा लेने से आनाकानी कर रहा था। सरला ने उसे पुचकारते हुए कहा, "पी लो, मेरे राजा बेटे!"

राकेश कुछ पकड़ते-पकड़ते जैसे रह गया, ध्यान टूट गया। वह झुंझलाया, "मैंने कहा न, सरला, ज़रा धीरे बोलो।"

और फिर वह उठकर छपरी में चहल-क़दमी करने लगा। बाहर हलकी बारिश हो रही थी। राकेश सोचने में तन्मय हो गया। वह किसी अनजान देश में, अनोखे लोगों से बोलने-बताने लगा······धरती का एक टुकड़ा है, एक द्वीप। समुद्र की तरल बाँहें उसे चारों ओर से घेरे हैं। वहाँ पक्षियों के मीठे स्वर गूँजा करते हैं, वहाँ फूल-पत्ते सदा हँसा करते हैं। वह शान्ति, प्यार और खुशियों का देश। वहाँ रहने वाले आदमी बड़े भोले हैं, बिल्कुल मेमने। वे सदा हँसते, गाते, नाचते-कूदते और खेलते रहते हैं। वे सुख, सन्तोष और प्यार ही जानते हैं। अभाव, दुःख, यातना, स्वार्थपरता उनकी ज़िन्दगी में नहीं हैं। मगर एक दिन···

द्वीप के भोले निवासियों ने देखा, लहरें उठती चली आ रही हैं। आती हैं और द्वीप के कगारों से टकराती हैं, उन्हें हिला देती हैं। निवासियों ने सोचा, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, लहरें सदा निरीह रही हैं, और इसी बीच उन्होंने देखा, उमड़ती लहरों की छाती पर बैठी, एक काली मछली चली आ रही है। निवासी हैरत में पड़ गये। इतनी बड़ी मछली तो उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी। यह कैसी मछली ?···

राकेश ने अपनी नई कहानी के लिए शीर्षक सोचा, 'काले साये' या 'गीत मुरझा गए'·········या ऐसा ही कुछ। वह अपने कथानक का अगला हिस्सा सोचने लगा।···बड़ी मछली किनारे से आ टकराई। किनारे की एक विशाल चट्टान टूटकर समुद्र में जा गिरी और ज़ोर की आवाज़ हुई। भोले निवासी आँखें फाड़कर देखते रह गए।···

"मुन्ना आपको याद करता है। चलिये न···"

"अभी तुम सँभाल लो उसे। मैं थोड़ी देर बाद आता हूँ। ज़रा यह कहानी···"

सरला लौट गई। राकेश कथानक का टूटा क्रम जोड़ने लगा।···हाँ, भोले निवासी आँखें फाड़कर देख रहे थे। अचानक मछली के पेट में एक सुराख हो गया और उसमें से आदमी निकले, पेटियाँ निकलीं, बोरे निकले और बन्दूकें निकलीं। द्वीप के लोग आश्चर्य और भय से देखते रह गए। कितने

भोले थे वे ? वे नहीं जानते थे कि वह मछली जहाज है और उसमें बैठकर आने वाले आदमी मेहमान नहीं, सौदागर हैं। वे भोले निवासी हर चीज़ से प्रेम करना जानते थे, आगे बढ़कर उन्होंने इन अजनबियों का भी स्वागत किया, उन्हें अपने देश के फल-फूल और फ़सलें भेंट कीं। सौदागर हँसे उनकी मूर्खता पर। खूब बुद्धू मिले !······

तभी राकेश के कानों में कोठरी से आते ये शब्द पड़े···

"ज़रूर अच्छे हो जाओगे, मेरे लाल।"

"तो अब तक क्यों अच्छा नहीं हुआ, माँ ?"

"हाँ, अब तक वह क्यों नहीं अच्छा हुआ ? क्या उसकी बीमारी का कोई उपचार नहीं था ?···था, अवश्य था। मगर उपचार तो पैसों से होता है और लेखक-बाप के पास सब कुछ था···प्यार भरा गर्म दिल और प्रखर लेखनी, मगर रोज़ी नहीं थी···बच्चे की दवा के लिए पैसे नहीं थे। पैसों की कमी झूठी दिलासा से पूरी की गयी···चलो, आज नहीं तो कल यह अवश्य अच्छा हो जावेगा, भगवान ज़रूर दया करेंगे।···और इस तरह एक माह होने को आया। कब तक यह कोमल बच्चा बीमारी से लड़ता रहेगा ? कहीं किसी दिन···राकेश का मस्तिष्क झनझना उठा, नहीं, यह नहीं हो सकता। उसका इकलौता बच्चा, उसकी आकांक्षाओं का स्वप्न, सदा उसकी आँखों के सामने रहेगा, हँसता-चहकता रहेगा। कोई भी हस्ती उसे उससे जुदा नहीं कर सकती।

राकेश तत्परता से अपनी कहानी पूरी करने में जुट गया। हो सकता है, यह कहानी उसकी क़िस्मत बदल दे। और उसके मस्तिष्क में कल्पना के बादल उठे···तो उस साल उस द्वीप में एक अजीब बात हुई। खेतों में फ़सलें उगीं, मगर उनसे अन्न न निकला। फूल खिले मगर उनमें गन्ध न थी। अजीब बात।···मालूम हुआ, फ़सलों को कीड़ा लग गया। द्वीप के भोले निवासी सोचने लगे, यह कीड़ा क्या ? यह जोंक क्या ? ये मेहनत क्यों नहीं करते ?···सौदागरों को उनकी अज्ञानता पर हँसी आई। उस साल उस द्वीप के भोले निवासी पहली बार भूखे रहे। पहली बार उन भोले निवासियों ने कई अजीब बातें जानीं—पतझर, अकाल, बाढ़, भूकम्प, भुखमरी और ग़रीबी···

राकेश आँखें खुली रखने की पूरी चेष्टा कर रहा था, मगर पलकें झपकने लगी थीं, झपकती जा रही थीं। लालटेन की रोशनी धीरे-धीरे स्याह होती गयी। बादल एक बार ज़ोर से गरजे। बारिश कुछ तेज़ हुई। लालटेन का तेल ख़त्म हो गया। लौ भभकी और एक बार चमक कर सदा के लिए बुझ गयी। राकेश बुदबुदाया···पहला पुरस्कार, पाँच हज़ार रुपये। सरला, तुमने सुना ? मैं न कहता था कि क़िस्मत बदलती है तो इसी प्रकार बदलती है, बस अब हम अपनी सारी इच्छाएँ पूरी कर लेंगे···

और बिजली कौंधती रही और बादल गरजते रहे और हवा घर के दरवाज़े को खटखटाती रही और राकेश बुदबुदाता रहा···हम यह कच्चा मकान छोड़ देंगे। कोई बढ़िया मकान लेंगे। सामने बगीचा होगा, उसमें हमारे मुन्ने की किलकारियाँ गूँजेंगी और हाँ, शीघ्र ही मेरी पुस्तक छपेगी। वह हाथों-हाथ बिक जायेगी और फिर हमें किसी बात की कमी न रहेगी। हाँ, किसी बात की कमी न रहेगी···

अचानक गली में कुत्ता जोर से रोने लगा। राकेश की नींद उचट गयी, सपने उड़ गए। उसने हड़बड़ा कर अपने इर्द-गिर्द देखा, पूरी छपरी में अँधेरा था। इस बीच बारिश थम गयी थी। बिजली आख़िरी बार चमक चुकी थी। आकाश की छाती पर काले बादल बेहोश पड़े थे। राकेश उठा। दरवाज़ा आधा खुला और आधा बन्द था, जैसे उसमें से कोई चुपके से निकल गया हो। राकेश सिर से पैर तक काँप गया। दिल धक से रहा गया। उसने सरला को पुकारा।

वह शायद अभी-अभी ही सोई थी। मुन्ना की कराहें अब रुक गयी थीं। शायद वह भी सो गया था।

राकेश जल्दी से कोठरी में पहुँचा। उसने मुन्ना का बिछौना टटोला। ···हां, यह रहा मुन्ना, यह उसकी कोमल देह और यह रहा उसका प्यारा मुखड़ा। राकेश ने मुन्ने की देह पर प्यार से हाथ फेरा। उसकी देह में ताप न था, शायद बुखार उतर चुका था। राकेश का मन खिल गया। बढ़कर उसने मुन्ना को अपनी बाँहों में समेट लिया और उसके पतले हाथ चूम लिए।

मगर यह क्या ? उसे लगा जैसे उसने किसी बुत को चूमा। उसकी पकड़ में एक लाश थी···

आसमान साँस रोके खड़ा था और उसकी काली छाया राकेश की दृष्टि में कहीं खो गयी थी। राकेश को कुछ नहीं सूझ रहा था, कुछ नहीं। उसकी कहानी का कथानक तो न जाने कब हवा हो चुका था।

अन्तर्द्वन्द्व

कभी-कभी मन की धातु विवेक की आँच में तपकर एक ऐसे द्रवीकरण बिन्दु पर पहुँच जाती है, जब वह अपनी कल्पनाओं, धारणाओं और विचारों को सक्रिय रूप देने लगती है। उस रात कपिलवस्तु के युवराज सिद्धार्थ का मन विचारों के द्वन्द्व की ऐसी ही आँच अनुभव कर रहा था। रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चुका था, मगर युवराज की आँखों में नींद न थी, उसके मस्तिष्क में विचारों का तूफ़ान उठ, उमड़ रहा था। तेज़ी से शयन-कक्ष में चहल-क़दमी करते हुए वह आकर एक आदम-क़द शीशे के सामने खड़ा हो गया। उसमें एक व्यक्ति की छाया उपस्थित थी। सिद्धार्थ को महसूस हुआ, उस छाया में युवराज सिद्धार्थ की कोई झलक नहीं है। वह तो किसी अन्य ही व्यक्ति की प्रतिच्छाया है। सिद्धार्थ पूछ बैठा, "तुम कौन हो, क्या चाहते हो ?"

वह व्यक्ति हँसा, "तुम मुझे जानते हो, और मैं क्या चाहता हूँ, यह भी तुम्हें ज्ञात है।"

"पर···"

'हाँ, मैं तुम्हें अपने साथ ले जाने आया हूँ। चलो, मेरे साथ···।"

"मगर तुम्हारा मंतव्य क्या है ? तुम मुझे कहाँ ले जाना चाहते हो, क्यों ले जाना चाहते हो ?"

"वह तुम्हें मालूम है। नादान न बनो।"

"लेकिन······"

"मेरे पास अधिक समय नहीं है। विलम्ब न करो।"

"मुझे अवकाश दो···"

"मैं ठहर नहीं सकता।" और सिद्धार्थ ने देखा, शीशे में उसकी ही छाया है, अन्य व्यक्ति वहाँ कोई नहीं है।

वह चीख पड़ा, "रुको, अज्ञात पुरुष रुको ! मुझे तुम्हारा निमन्त्रण

स्वीकार है। मैं तुम्हारे साथ चलने को तैयार हूँ। बस तनिक ठहरो, मैं आया।"

दूर से आती हुई एक ऊँची आवाज़ युवराज के कानों में पड़ी, "विलम्ब न करो, कुमार! यही समय उपयुक्त है। रात्रि का मध्यकाल और तुम्हारे जीवन का तरुण प्रहर! दोनों इस यात्रा के लिए उपयुक्त हैं, अब विलम्ब करना ग़लत है।"

सिद्धार्थ बुदबुदाया, "अब अधिक विलम्ब नहीं। दो क्षण और रुको, ऐ साथी! एक बार वत्स राहुल को चूम लेने दो। कौन जाने, वह आँखें खोले जाग रहा है या पलक मीचे स्वप्नों की सुहावनी दुनिया में खोया है।"

प्रत्युत्तर मिला, "नहीं! अब मैं नहीं ठहरूँगा। जान पड़ता है तुम्हारे उर में राहुल के स्नेह ने घर कर लिया है। तुम इस यात्रा के योग्य नहीं रहे। तुम्हारा मन चंचल है, तुम्हारा मानस एकाग्र नहीं। तुम सर्वथा इस यात्रा के अयोग्य हो, असमर्थ हो।"

"मैं सर्वथा योग्य हूँ। सिद्धार्थ चीख उठा पर समक्ष किसी को न निहार, वह धम्म से पुनः शैय्या पर गिर पड़ा, तुम चले गये। मुझे साथ ले जाना स्वीकार नहीं किया।···पर क्यों? मैं इस यात्रा के अयोग्य क्यों हूँ? तुम्हीं ने तो उस दिन कहा था, "सिद्धार्थ, तुम मानव का हित कर सकते हो। तुम्हारा जन्म मानवता की सेवा करने के लिए हुआ है, राज्य-सुख भोगने के लिए नहीं, आज मानवता को तुम्हारी आवश्यकता है। उठो, शीघ्रता करो। चलो मेरे साथ। मैं तुम्हें जग में ले चलूँगा।" तब मैंने 'हाँ' ही कहा था न? तब फिर आज तुम्हें यह संदेह क्यों? सन्देह···हाँ···शायद इसलिये कि मेरा अन्तर अभी शुष्क नहीं हुआ है। स्नेह, प्रेम जैसी मानवी भावनाएँ उस पर छाई हुई हैं। सरसता उसमें छलछला रही है।

—पर स्नेह पर प्रतिबन्ध क्यों? क्या उस साधना में स्नेह को कोई स्थान नहीं?

—नहीं···नहीं। वह साधना स्वतः ही तो एक व्यापक प्रेम का प्रतिरूप मात्र है। वह विश्व-प्रेम, मानव-प्रेम के आधार पर ही तो अवलम्बित है, फिर यह प्रतिबन्ध क्यों?

—जान पड़ता है, ऐ मायावी, तुम मुझे ग़लत राह इंगित कर रहे हो। मैं अब जान पाया कि तुम छली हो, कपटी हो। तुम्हारा मन साफ़ नहीं।

—हाँ···शायद इसलिए तुम मुझे राज्य-सुख से वंचित करना चाहते थे। क्या मैं मानव-कल्याण का यह कार्य इस राज्य के किरीट को धारण कर नहीं कर सकता ? क्या राज्य-सत्ता मेरी इस साधना में सहायक न होगी ? होगी···अवश्य होगी, कारण कि राज्य के नियमों के आधार पर मानवता का मुख मनचाही दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है। उसे नियम द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का पालन करने के लिए विवश किया जा सकता है। राज्य-सत्ता इस कार्य में सहायक होगी। इस महा-साधना में योग देगी। ठीक है, मैं नहीं जाऊँगा।

—यही उचित है। यही राज-गृह मेरी साधना की प्रयोगशाला होगा। तुम कहते हो, मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें विश्व में ले चलूँगा। क्या अभी मैं विश्व में नहीं हूँ, क्या वह राजा शुद्धोधन का निवास-स्थान विश्व का अंश नहीं है ? जान पड़ता है, तुम मुझे छलना चाहते हो, तुम मुझे यथार्थ विश्व से दूर ले जाना चाहते हो। मैं नहीं कह सकता··· तुम्हारी मनोकामना क्या है ?

—तुम्हारी मनोकामना···क्या यह कि मैं गृह-द्वार, राज्य-कार्य त्याग कर घर-घर का भिखमंगा बन जाऊँ और दाने-दाने को तरसूँ ? क्या तुम्हारी ऐसी कुत्सित इच्छा है ?

—नहीं, शायद यह नहीं, मुझे तुम इस ओछी प्रकृति के प्रतीत नहीं होते ! शायद तुम्हारा कहना ही उचित हो कि मैं एक राजा बनने के उपरान्त आज जैसा कुमार नहीं रह जाऊँगा। मैं क्या जानूँ ऐसा हो सकता है अथवा नहीं ?

—हाँ,···अब मुझे यथार्थता का भान हुआ, वास्तविकता का ज्ञान हुआ। मानवता का कल्याण राजा नहीं, देवता नहीं, बल्कि एक सच्चा मानव ही कर सकता है। राजा को उसके पद की प्रतिष्ठा, देवता को उसके आदर्शों की मर्यादा, पीड़ित मानव के निकट नहीं पहुँचने देती। वह तो मानव ही है, जो पीड़ित मानव के मर्म को समझ सकता है और उनका उचित निदान खोज सकता है।

—ठीक है···अब मेरे दृगों के सामने से भ्रम की मिथ्या यवनिका उठ गयी। अब मैं जान पाया कि क्यों राम वनवास गये थे ?···लौट आओ, साथी ! मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ। मैं तुम्हारे सन्देश का वास्तविक अर्थ तब नहीं, अब समझ पाया हूँ।

—पर···तुम नहीं आ रहे, नहीं आना चाहते···तो मत आओ; तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मैं स्वतः अपना मार्ग खोज लूँगा। जगत को जिसकी आवश्यकता है उसको और किसी की आवश्यकता क्यों हो ?

—उचित है, मैं अभी अपने पथ पर प्रयाण कर दूँ ? कौन जाने बाद में मतान्तर न हो जाय ?

—जाना तो आवश्यक है ही, और मैं जाऊँगा भी अवश्य, पर हानि क्या, यदि एक बार यशोधरा को निहार लूँ। बेचारी बेसुध होगी। प्रातः जब उसे ज्ञात होगा तो वह न जाने कितना प्रलाप करेगी। छिः वह कैसा व्यर्थ रोदन होगा !

मुड़कर धीरे-धीरे सिद्धार्थ यशोधरा के शयन-कक्ष की ओर चल पड़ा। अन्तर्प्रकोष्ठ से प्रतिक्षण यशोधरा के श्वासों की धीमी-धीमी आवाज़ आ रही थी। कुमार अचानक प्रकोष्ठ के द्वार पर ही रुक गये। उसने सोचा, नहीं मुझे यशोधरा के निकट नहीं जाना चाहिए।

—हाँ, जबकि मैं राग से नितान्त प्रतिकूल वैराग्य के पथ पर जा रहा हूँ, तब फिर यह प्रतिकूल यात्रा क्यों ?···चलो, लौट चलूँ।

—एक भारी-सी निगाह सिद्धार्थ ने यशोधरा के प्रकोष्ठ के बन्द द्वार पर डाली और वह लौटने को तत्पर हो गया, पर एकाएक उसे स्मरण हुआ —यह मेरी पराजय है। मुझे स्वतः पर विश्वास नहीं। मैं नारी के आकर्षण के केन्द्र से भयभीत होकर भागना चाहता हूँ। हारकर मुख मोड़ना चाहता हूँ।

—ऐसा ?······मैं हारकर मुख मोड़ रहा हूँ। नहीं···कदापि नहीं। मैं संयमी हूँ। दृढ़ प्रतिज्ञ हूँ। लो···मैं यशोधरा से मिलकर ही जाऊँगा।

—और दूसरे ही क्षण कुमार बढ़कर प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हो गए। —ओह ! वह रही पगली यशोधरा। एक राजकुमार की जननी व एक युवराज की भार्या। सचमुच कितनी भली दिखती है वह। पलकें बन्द हैं, अंग-प्रत्यंग शिथिल ढुलके पड़े हैं। पर इस असावधानी में भी क्या लय है ? इस असतर्कता में भी कैसा अपूर्व शृंगार है ! वह कला की सजीव कल्पना है, वह शृंगार का स्पन्दित संसार है।

—भ्रम था वह मेरा कि मैं इस रूपराशि को ठुकरा कर अन्यत्र रूप का सृजन करना चाहता था। एक ओर खण्डहर बनाकर यदि दूसरी ओर मैंने कला का निर्माण किया भी तो इसमें लाभ ही क्या ?

कैसे विस्मृत कर दूँ उन क्षणों को जब मैंने उससे कहा था, "यशोधरे ! तुमने मुझे एक नये पथ पर ला दिया है। कब से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था।" तब उसने कहा था, "तुम्हारी इन बातों से मुझे सन्देह होता है, नाथ! शायद तुम मेरी प्रतीक्षा नहीं कर रहे थे, प्रत्युत किसी अन्य की। भय लगता है, तुम मुझे कहीं त्याग न दो।"

"नहीं, नहीं यशोधरे !" मैंने कहा था, "मैं अन्य किसी को नहीं, तुम्हें ही खोज रहा था। तुम मुझे मिल गईं, संसार मिल गया ! अब मैं अन्यत्र नहीं भटकूँगा। तुम विश्वास करो।"

सचमुच तब उसने विश्वास कर लिया था और आज भी वह मुझ पर विश्वास करती है। देखो न राहुल को अंक में सँजोये कैसी निश्चिन्त सो रही है !

—नहीं··· मुझ से यह न होगा। अपने वचनों के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता मैं। अपने विश्वास-पात्र से छल नहीं कर सकता मैं।

—यशोधरे। काश, तुम जागती होतीं तो देख लेतीं कि तुम्हारा सिद्धार्थ अभी भी अपने वचनों का मूल्य जोख रहा है। वह तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता।

और बढ़कर सिद्धार्थ यशोधरा के पर्यंक के समीप पहुँच गया। झुक कर वह यशोधरा के बिखरे सौंदर्य को जैसे समेट लेना चाहता था। उसकी फैली अलकों को सँवारना चाहता था, पर तभी···

कुछ दिवस पूर्व देखे हुए दृश्य उसके समक्ष एकाएक स्पष्ट हो गए··· वह रहा रोग-ग्रस्त शरीर···उफ़···वह जरावस्था·····;····सिद्धार्थ ने यशोधरा के शरीर में अपनी स्वप्न-छाया की सृष्टि विलोकी। वह अचम्भित हो गया···हैं ! यही मेरी वह यशोधरा है ? यह पीतवर्ण मुरझाई देह···धँसे हुए कपोल···स्याह नेत्र ! हैं, यह क्या ? यशोधरा भी वृद्धा हो गयी ? उफ़ !

कुमार ने आँखें बन्द कर लीं ! दो क्षण पश्चात् उसने पुनः आँखें खोलीं, तो देखा···यशोधरा अपनी अन्तिम साँसें ले रही है।

—ओह, यशोधरा तुम्हारी भी यह दशा ! तुम पर भी जरावस्था का आघात ! तुम पर भी रोगों का आक्रमण ?

उसे प्रकोष्ठ की दीवारें अट्टहास करती हुई-सी प्रतीत हुईं। लगा जैसे कोई कह रहा है, 'लो देखो, अपनी सौंदर्य की साम्राज्ञी का अन्तिम संस्कार।'

—और सचमुच ही युवराज के सामने श्मशान का चित्र खिंच गया। यशोधरा की देह भी राख हुई जा रही थी। उसकी लाश को नोचने के लिए सियार और गिद्ध आ जमे थे। यशोधरा का निस्पन्द शरीर ऐंठता जा रहा था। ···सिद्धार्थ अधिक न देख सका, वह वहाँ से एकदम लौट पड़ा। विवेक की आँच की तीव्रता उसके मन को धातु को पिघला चुकी थी। ···सबका अन्त समान है। सभी इस जग की व्याधियों के शिकार हैं। मेरी यशोधरा, मेरा राहुल—यह कुछ नहीं। कोई इस नियम का अपवाद नहीं! यह प्रश्न व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक है। मुझे समूचे समाज के उद्धार का हल खोजना चाहिए।···मुझे जगती के सारे मानवों के कल्याण का मार्ग खोजना चाहिए। फिर मेरी यशोधरा भी मुक्त होगी, संसार भी मुक्त होगा। सब मुक्त होंगे—इस जग की इन व्याधियों से।···

कुमार बढ़ता जा रहा था। ज्वालामुखी मानो लावा उगलने लगा था। कोई ताक़त अब उसके पैरों में बेड़ियाँ डालने का साहस नहीं कर सकती थी। प्रकोष्ठ के द्वार खुले और वह बाहर हुआ। राजप्रासाद का द्वार खुला और वह मोह से दूर हुआ। नगर के परकोटे के सिंहद्वार खुले और उसका मन मानो स्वयं ही मुक्त हो गया—एक महान् साधना-पथ के उन्मुक्त वातावरण में।

कपूर की गंध

जाने क्यों, उसे अब हर क्षण हँसी आती है, हर बात पर हँसी आती है ! कभी-कभी तो कोई बात भी नहीं होती और वह मुस्कराती है··· बस मुस्कराते ही रहती है । सपनों की मधुर छाँव में सुध-बुध खोकर नींद में वह मुस्कराती रहती है । अजीब बात है । चम्पा मास्सी कहती है—"रज्जो बौरा गयी है, तभी तो···"

तभी तो क्या, कोई जोगिन्दर से पूछे जो कभी खिड़की की ओट से, कभी मुंडेर पर खड़े रहकर, कभी यहाँ से, कभी वहाँ से चोरी-छुपे एकटक उसे घूरा करता है और जो कहीं रज्जो उसे यूँ देख लेती है तो इस क़दर झेंप जाता है कि पूछो मत ! हाय, वह ऐसा क्यों करता है ? —रज्जो सोचती है और बस मुस्करा उठती है ! उस क्षण उसकी यह इच्छा होती है कि किसी को बताये, जोगिन्दर कैसा है, क्या करता है और पूछे कि वह ऐसा क्यों करता है, झेंप क्यों जाता है ! लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाती, बात ज़ुबान पर आती है मगर मुँह से बाहर निकल नहीं पाती । तोबा ! अपनी जीभ आप काटते हुए वह बुदबुदाती है, "जाने कोई क्या सोचे ।"

यूँ वह गलियारे से निकलती तो आभास लेती रहती, जोगिन्दर कहाँ है ? नानबाई से बातें करती तो इसीलिए ज़ोर-ज़ोर से बोलती कि जोगिन्दर जान जाये । उस दिन गुरुद्वारे से लौटी तो अबेर हो गयी । सांझ का झुट-पुटा घिर आया था । मास्सी धीरे-धीरे पीछे आ रही थी । बैंजी, पाइयाजी बाट जोहते होंगे । रज्जो ने सोचा और जल्दी घर पहुँच जाने के लिए लम्बे डग भरने लगी । गली के मोड़ पर बढ़ी तो किसी ने उसको खींच लिया, उसका हाथ पकड़ लिया । वह चीख़ने को हुई ; लेकिन अँधियारे में भी उसने उसे पहिचान लिया और बोल उठी—"धत्, तू !" और मुस्कराते हुए दोहरी हो गयी ।

जोगिन्दर क्षण भर भी नहीं रुका, पलक झपकते झुटपुटे में कहीं खो गया । अन्धेरे में एक किरन उभरी और विलीन हो गयी । रज्जो हतबुद्धि-सी

खड़ी रही, कुछ समझकर भी कुछ न समझी। उसे सुध आयी मास्सी की आवाज़ सुनकर, "क्या हुआ रज्जो ? रुक क्यों गयी ?"

"कुछ तो नहीं, मास्सी"—रज्जो ने हड़बड़ाकर अपना दुपट्टा सँभाला और हथेली में दबा वह कागज़, जो जोगिन्दर दे गया था, चुपके से कुरते में छुपा लिया। फिर यह भाँपने के लिए कि मास्सी ने ताड़ तो नहीं लिया, मुड़कर देखा तो हँसी आ गयी—मास्सी पाँच क़दम दूर जो थी।

कुरते में पत्री क्या थी, रज्जो के जिस्म को पंख लग गये थे। वह पुलक-पुलक उठे! कब घर आई, कब छत पर पहुँची—पता न चला। कुरते में से पत्री निकाली। चांद के उजियारे में पढ़ने लगी, लेकिन पढ़ न सकी। रात के पहले पहर में चाँद का उजियारा मद्धिम था। पत्री के सब आखर धुँधले लगे। जोगिन्दर ने जाने क्या लिखा था, रज्जो 'आह' भरकर रह गयी। उजियारे के तेज़ होने की उम्मीद में वह दूसरे और तीसरे पहर तक जागती रही। तारे गिनते छन-छन बीते। चाँद का उजियारा तेज हुआ। पत्री के धुँधले आखर साफ़ हो गये। रज्जो हिज्जे जोड़ने लगी—सो-ह-णि-यों··· सोहणियों! उसने पत्री का पहला शब्द पढ़ा और उसकी कनपटी तप्त हो उठी, सोहणियों! वह किसी की सोहणी है, उसने सोचा और लजा गयी। आगे पढ़ा उसी तरह "मैं ने तेरे नाल प्रेम···" कहाँ तक हिज्जे जोड़े? जोगिन्दर ने तो ऐसे-ऐसे बोल लिखे थे जो रज्जो ने कभी बाँचे ही न थे। रज्जो ने सोचा, कल यह पत्री वह किसी से पढ़वायेगी; लेकिन किससे···हाय, कोई क्या सोचेगा ?

उसने चाँद के उजाले में जोगिन्दर की पत्री फिर देखी। जोगिन्दर के अक्षर कितने सुन्दर थे! बार-बार देखने पर भी रज्जो का जी न भरा तो उसने उसे होठों से लगा लिया और अपने आपसे बोली, "सोहणियों!" और हँस दी!

सुबह ग्वालन की टेर पर बाहर आई। सामने नज़र गयी तो वहाँ दिखा वही! इस बार वह झेंपा नहीं, मुस्करा उठा। रज्जो एक क्षण हँसी लेकिन दूसरे ही क्षण जाने क्या सूझा, उसने अपने माथे पर दुपट्टा खींच लिया। जल्दी-जल्दी ग्वालन से दूध लिया और नज़र झुकाये तेज़ी से लौट पड़ी। रसोई में घुसने के पहले न रहा गया तो एक बार मुड़कर देख लिया—जोगिन्दर अभी भी वहीं खड़ा था, मुस्करा रहा था। "बोड़ा तो है"—रज्जो बुदबुदायी और अपनी ही बात पर दुपट्टा मुँह में दबाकर हँस पड़ी!

बैंजी कहती हैं—"री ! इतना हँसना ठीक नहीं ।"···लेकिन रज्जो नहीं मानती। माने कैसे ? जोगिन्दर की पाती उसके लिए नौलखाहार से कम नहीं । हाँ, नौलखा ही तो ! गुदड़ी में नौलखा ! ! कहाँ छुपाये उसे वह ! दूसरा ठौर नहीं । चौबीसों घण्टे कुरते में छुपाये रहती है और जब मौक़ा मिलता है, खोलकर उसे देखती है, चूमती है, हिज्जे जोड़ती है—"तेरे बगैर जींदा नहीं रह सकता···" किसी की आहट मिलती है तो सशंक हो जाती है । फ़ौरन पत्री को छुपा लेती है । जब से वह पत्री उसके पास है, देह में मधुर पुलकन उमगी रहती है, मन पर नशा छाया रहता है···।

खुशी के दिन ऐसे उड़े, जैसे कपूर की गंध । दिन उड़ते गये और एक दिन रज्जो के मन पर छाया नशा भी ले उड़े । पुलकन छीन ले गये । जोगिन्दर की पाती सुबह से नहीं मिल रही थी। जाने कहाँ गिर गयी थी ? रज्जो ने खूब सोचा । गुसलखाने में गयी । देह के सारे वस्त्र झटक डाले पर पाती न मिली । मास्सी, बैंजी की नज़र बचाकर घर का हर कोना, हर दराज़ देख डाले, लेकिन पाती न मिलनी थी, न मिली । दिन भर परेशान रही वह ! अभ्यस्त हाथ बार-बार छाती की ओर जायें लेकिन वहाँ पाती कहाँ ! रज्जो 'सोहणियों' की हिज्जे जोड़ने के लिए तरस-तरस जाये !

तिस पर मुसीबत यह कि जोगिन्दर भी नहीं दिख रहा था । साँझ में रज्जो छत पर इसी आस में खड़ी थी । तभी वहाँ आ गये पाइया । डपटकर रज्जो से बोले, "यहाँ क्या कर रही है ? नीचे जाओ ।"

सहमती हुई वह नीचे उतर गयी ।

दूसरे दिन दूर सड़क पर एक व्यक्ति दिखा । रज्जो ने झरोखे में से देखा और उसे पहिचानते देर नहीं लगी···वही पीला साफा तो था । रज्जो के चेहरे पर लाली फूट गयी । वह अच्छी तरह झरोखे के सामने आ गयी कि वह नज़र फेंके तो देख ले । वह साइकल पर था । रज्जो को लगा, घर के निकट आते ही जैसे उसने साइकिल की रफ़्तार तेज़ कर दी । वह उम्मीद कर रही थी, वह अब इधर नज़र डालेगा, अब डालेगा लेकिन उसने तो भूलकर भी इधर नज़र न डाली । रज्जो से न रहा गया तो वहाँ से हट वह सीधे दरवाज़े पर जा खड़ी हुई मगर उसने मुड़कर न देखा । उसे क्या हो गया है ? शायद मन उचट गया है । लेकिन क्यों ?···नहीं, यह बात नहीं । शायद मुझे छकाना चाहता है । बड़ा वो है ।—रज्जो ने सोचा और उसकी आँखों में चमक

नाच गयी। वह दिन भर खुश रही और मुस्कराती रही और अपनी मीठी आवाज़ में गुनगुनाती रही—'सोहणियों !' पाती गुमी थी लेकिन जोगिन्दर तो नहीं ! रज्जो के होठों की हँसी क्यों छिने ? इस हँसी की नाज़ुक डोर से ही तो जोगिन्दर बंधा था, रज्जो क्या इतना भी नहीं समझती ?

साँझ में वह आंगन में खड़ी काका को उछाल रही थी। काका खिल-खिला रहा था लेकिन रज्जो के क़हक़हों का शोर ऐसा कि पड़ोस गूँजे। बैजी बोलीं—"निगोड़ी ने आसमान सिर पर उठा रखा है।"

उधर से आती चम्पा मास्सी ने मुस्कराते हुए बैंजी को झिड़का "कैसी बातें करती हो, बैन ! यही तो उम्र है उसकी हँसी-मौज की।" फिर रज्जो की ओर बढ़ते हुए कहा, "इधर आ बेटी, यह ले···गाँव के सरदारजी ने यह सुहाग-पिटारी भेजी है। जोड़ा ज़रा पहनकर तो देख !"

मास्सी की ओर बढ़ते हुए रज्जो की नज़र ज्यों ही सुहाग-पेटारी पर पड़ी तो वह वहीं ठिठक गयी। मास्सी ने आगे बढ़कर रज्जो के हाथों में वह रेशमी जोड़ा रख दिया और गाल पर धौल मारते हुए कहा—"भूतनीसी क्या खड़ी है, मेरी नन्हीं सोहणी ! री, हंस !"

रज्जो हँसने को हुई लेकिन यूँ कि रुआँसी हो गयी ! चेहरे पर दुपट्टा ढँककर बिसूरने लगी कि हाय, मुझे हँसी क्यों नहीं आती हाँ, क्यों नहीं आती······

उसे क्या पता कि इस एक लमहे में ही वह लड़की नहीं रही थी, औरत हो गयी थी !

ट्रेजेडी एक अख़बार की

जी० राम को यूँ जानो कि मौज़ा रिमखिरिया का लोकल अख़बार। ऐसा अख़बार—जिसकी एक ही कापी छपे, दिन भर क़स्बे के हर व्यक्ति के हाथ से गुज़रे और शाम तक ऐसी जर्जर हो जाय कि चिन्दी-चिन्दी उड़े ! जी० राम यानी चलता-फिरता और बोलता अख़बार, कुदरती अख़बार !! विज्ञान ने अभी ऐसे अख़बार का आविष्कार नहीं किया है।

सुबह हुई और जी० राम इस तरह सजे-सँवरे निकल पड़े जैसे कोई ताज़ा अख़बार। हँसते, चहकते जी० राम यूँ लगें जैसे तेज़ हवा में उड़ता, फर-फर करता अख़बार ! उन्हें देखते ही मढ़िया के द्वार खोलते पंडित शालिगराम के हाथ रुक गए। उन्होंने उसी अन्दाज में जी० राम को पुकारा जैसे कोई अख़बार का शौकीन 'हॉकर' को आवाज़ दे। जी० राम ने पंडितजी को जल्दी से पालागन की, ख़बरों के 'बैनर' सुनाए और आगे बढ़ गए। पंसारी वंशीलाल ने हथेली में तमाखू मलते हुए उनसे ऊपरी तौर पर कहा, "भैया तमाखू खाते जाओ।" लेकिन उनका मतलब भी वही होता—सुनाओ ख़बरें। जी० राम किसी को नाराज़ नहीं करते। दो क्षण पंसारी वंशीलाल के पास रुके। पंसारी के काम की ख़बरें पंसारी को सुनायीं और आगे बढ़ गए। राह में जितने लोग मिले, सबने उन्हें रोका। वह सब के साथ हँसे, बोले और वही ख़बरें बार-बार सुनायीं। लोग अच्छी ख़बरें सुनते तो हँसते। जी० राम भी लोगों के साथ हँसते, क़हक़हे लगाते ! लोग बुरी ख़बरें सुनते तो 'हाय तोबा' करते। जी० राम भी सबके साथ 'हाय तोबा' करने लगते।

एक अख़बार होता और पचीसों पढ़ने वाले ! नतीजा यह कि अख़बार की बुरी दुर्गत होती। जी० राम इधर से उधर भागते नज़र आते। कभी वक्त पर भोजन न मिलता, शाम तक उनके चेहरे और पोशाक पर क़स्बे की गर्द-गुबार की मोटी तह जम जाती। रात को वह घर लौटते, तो थके-माँदे अपनी खाट पर इस तरह गिर जाते जैसे रद्दी की टोकरी में फटा-पुराना अख़बार फिंके।

पिछले दो वर्षों से उनकी यही दिनचर्या थी। दो वर्ष पूर्व जब वह जिले के सदर मुकाम से तब्दील होकर इस क़स्बे में आए थे तो यहाँ की हालत देखकर घबड़ा गए। लोग एकदम कूपमंडूक थे—विदेशों की बातें छोड़िए, उन्हें यह भी मालूम न होता था कि उनके जिले में क्या हो रहा है। उन्हें अपने काम से काम, दूसरों से कोई वास्ता न था। जी० राम को बतौर सज़ा के ही इस क़स्बे के मदरसे में तब्दील किया गया था। मदरसा नया-नया खुला था। एकमात्र शिक्षक वही थे। उन्हें हेडमास्टर समझिए और चपरासी भी। जी० राम ताड़ गए, सज़ा बुरी मिली है। किसी तरह दो-चार दिन तो गुज़ारें लेकिन रविवार को छुट्टी पड़ी तो ज़िले के सदर मुकाम गए और वहाँ से एक 'क्रिस्टलसेट' ले आए। अब वह अक्सर कान पर 'हेडफ़ोन' चढ़ाए 'क्रिस्टलसेट' सुना करते हैं। क़स्बे के लोगों को यह बात विचित्र अवश्य लगी लेकिन अपनी आदत के अनुसार उन्होंने उसमें ख़ास दिलचस्पी नहीं ली।

जी० राम 'क्रिस्टलसेट' से जो सुनते, उसे सुनाने के लिए भी बेचैन रहते और कोई न मिला तो मदरसे के अबोध बच्चे तो थे। वह अपने अबोध शिष्यों को दुनिया का नक्शा खोलकर समझाते कि कहाँ कौन-सी घटना हुई है। अबोध बच्चे अपने गुरुजी की बात को कुछ समझते, बहुत न समझते, फिर भी पोज़ यूँ करते कि वे गुरुजी से भी ज़्यादा समझते हैं—बच्चे जो ठहरे! जो बातें वे सुन-समझ पाते, उन्हें वे अपने चाचा-बाबा, माँ-मौसी को सुनाते। यूँ वे अबोध बच्चे जी० राम के 'क्रिस्टलसेट' के मानो 'लाउड-स्पीकर' थे! उन्होंने ही एक दिन क़स्बे भर में आग की तरह यह ख़बर फैलायी थी कि चांद का बेटा पैदा हो गया है! ख़बर बेहद दिलचस्प थी। क़स्बे के बूढ़े-सयाने को कौतुक हुआ। वे दौड़े-दौड़े जी० राम के पास आए। उनसे तरह-तरह के सवाल करने लगे। उस दिन जी० राम की खाट के इर्द-गिर्द पूरा गाँव जमा हो गया था और तब जी० राम को अपना मन हवा में उड़ता हुआ नजर आया। उन्होंने लोगों को समझाया—"चांद का बेटा पैदा नहीं हुआ है, रूस के वैज्ञानिकों ने नक़ली चांद बना डाला है।"

क़स्बे के जीवन में वह एक ऐतिहासिक घटना थी क्योंकि उसी दिन से लोगों में 'न्यूज़सैंस' जागृत हुई। उसी दिन से क़स्बे में यह अख़बार लोक-प्रिय हुआ। अब लोगों को जी० राम की उपयोगिता अनुभव हुई। अब वह अदने से शिक्षक नहीं रहे—सशक्त अख़बार हो गए! अब जिसको देखो, वही

उनसे मिलने, बातें करने को उत्सुक था । इससे जी० राम को परेशानी तो हुई लेकिन गौरव भी महसूस हुआ। दरअसल उन्हें ख़बर सुनाने में विशेष सुख मिलता था। भारत के लोकल अख़बारों की तरह उनके पास भी अन्त-र्राष्ट्रीय समाचार अधिक होते थे और क़स्बे के लोगों का दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय बनाने का श्रेय जी० राम को ही प्राप्त था !

लेकिन आज जाने क्या बात हुई जो जी० राम अभी तक घर से नहीं निकले। सूरज सिर पर आने को हुआ, पंडित शालिगराम का पूजन-अर्चन ख़त्म होने को हुआ, पंसारी वंशीलाल बाट जोहते-जोहते थक गया; मगर जी० राम न दिखे, न दिखे। क़स्बे के लोग अपने इस अख़बार के लिए बेहद बेचैन हो गए। आपस में पूछ-ताछ होने लगी, अटकलों के अश्व दौड़ने लगे । अभी तक ऐसा मौक़ा नहीं आया था कि जी० राम यूँ गुम हुए हों।

सही बात यह थी कि क़स्बे के लोग जी० राम को एक अख़बार के रूप में ही जानते थे, आदमी के रूप में नहीं। उन्हें उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। वे यह भी नहीं जानते थे कि उनका पूरा नाम क्या है, जी० 'इनीशियल' के मानी क्या हैं। जी० राम तमाम दुनिया की ख़बरें तो सुनाते थे लेकिन अपने बारे में कभी किसी से एक शब्द भी नहीं कहते थे।

दीपावली और ग्रीष्म के अवकाश में अलबत्ता वह कस्बे से बाहर होते थे, लेकिन कहाँ जाते थे, क्या करते थे—यह न उन्होंने कभी बताया और न लोगों ने ही जानने की कोशिश की ! क़स्बे में वह अकेले ही रहते थे और लोगों को मालूम नहीं था कि उनके बीवी-बच्चे हैं भी या नहीं ?

करीब ग्यारह बजे दोपहर को जी० राम के घर का दरवाज़ा खुला। सामने मढ़िया के चबूतरे पर क़स्बे के चार-छह लोग बैठे थे। उन्होंने देखा, जी० राम का दुबला-पतला साँवला शरीर अधिक स्याह पड़ गया है। उस समय वह उदास और दुःखी थे—ऐसे लग रहे थे जैसे शोक-सूचक काली बार्डर से घिरा अख़बार का कोई परचा ! पंडित शालिगराम ने 'राम-राम' की तो उन्होंने नज़र उठाकर न देखा, न दो शब्द कहे । बस हाथ हिला दिया। जब वह क़रीब से गुज़रे तो लोगों ने ग़ौर किया, उनकी आँखें सुर्ख़ और सूजी हुई हैं ।

सारे दिन जी० राम ऐसे ही गुमसुम और ग़मगीन बने रहे। मदरसे में हाज़िरी ज़रूर दी लेकिन बच्चों को एक शब्द भी न पढ़ाया। क़स्बे के दो-एक नौजवानों से उनकी घनिष्ठता थी। उन्होंने पूछा, "भाई बात क्या है"; लेकिन जी० राम 'कुछ नहीं' कहकर रह गए।

ऊपरी तौर से वह जितने गुमसुम थे भीतरी तौर पर उतने ही उद्विग्न थे। विचारों का बवंडर उनके मन में बढ़ता ही जा रहा था और उस पर नियंत्रण रखना उनके लिए कठिन हो गया था। वह बार-बार अपनी जेब में से वह ख़त निकालते जो कल शाम को उन्हें मिला था। ख़त के मज़मून को पढ़कर उसका आशय समझने की कोशिश करते। इसी बीच कोई आता-जाता दिखता तो वह फ़ौरन उस ख़त को जेब के हवाले कर लेते। ख़त का आशय वही था, बार-बार पढ़ने पर भी आशय न बदलता। जी० राम का हृदय चीत्कार उठता, उनकी आँखें भर आतीं। अपने को वह मुश्किल से ही ज़ब्त रख पाते।

मदरसे की छुट्टी हुई तो जी० राम मुक्त हुए। तीर की तरह सीधे वह अपने घर आए। दरवाज़ा बन्द कर लिया और इस एकान्त में उन्होंने अपनी जेब से फिर वह ख़त निकाला। वह अब उसे ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने लगे—मैं न कहती थी भैया, बहू ज़रूर ख़ानदान की नाक उतारेगी। अब तुम्हीं जानो, तीन दिन से उसका पता नहीं है।

अख़बार को जैसे किसी ने नोंच लिया! जी० राम ने सिर धुन लिया और उनकी आँखों से आँसू के परनाले फट पड़े।

काश, वह दूसरी ख़बरों की तरह यह ख़बर भी किसी को सुना सकते! लेकिन वह महज अख़बार ही नहीं थे, आदमी भी थे। मौज़ा रिमखिरिया के उस अख़बार की एक यही तो 'ट्रेज़ेडी' थी!

प्रेत-लेखक[1]

"रुचि का पेशा !" चिहुँककर चन्द्रनाथ ने कहा। न जाने कब का दबा आक्रोश आज उनके शब्दों में फूट पड़ा था। वैसे वह अत्यन्त उदार एवं सहिष्णु प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने कहा, "तुम शायद मेरा मखौल उड़ा रहे हो, शायद समझते हो कि मैं अपनी वर्तमान जिन्दगी से जो सन्तुष्ट दिखता हूँ, वह ढोंग है।"

दरअसल मैंने इस अर्थ में वह बात नहीं कही थी और मैं समझ नहीं सका कि मेरे एक सामान्य विचार ने चन्द्रनाथजी को यों उद्वेलित कैसे कर दिया। हम पिछले छः मास से परिचित थे लेकिन मुझे याद नहीं, कभी मैंने चन्द्रनाथजी को इस तरह असंयमित देखा हो। उनके सम्बन्ध में मेरा भिन्न ही मत है—यानी वह असामान्य व्यक्ति हैं, सामान्य नियमों के अपवाद उनमें पाये जा सकते हैं।

यहाँ मैं आपको उनसे परिचय होने का वह प्रसंग सुना दूँ। कम-से-कम मैं तो उस प्रसंग को भी अद्भुत समझता हूँ। उस दिन डाक से एक पत्र मिला और पत्र भेजने-वाले का नाम पढ़कर मैं भौंचक रह गया। वह सुप्रसिद्ध साहित्यकार चन्द्रनाथजी का पत्र था। उन दिनों चन्द्रनाथजी की ख़ूब धाक थी। मैंने भी उनका नाम सुन रखा था और आशा करता था कि किसी सभा-सोसायटी में उनके दर्शन करूँगा। मैंने हाल ही में लिखना शुरू किया था और उन दिनों मैं साहित्य-साधना के बारे में एक स्वप्निल दृष्टिकोण अपनाये था। चन्द्रनाथजी किसी सभा-सोसायटी में नहीं दिखे। मालूम हुआ, वह सार्वजनिक कार्यक्रमों में उपस्थित नहीं होते। इससे कौतूहल उत्तेजित हुआ। मैंने उस व्यक्ति के बारे में एक विचित्र-सी धारणा बना ली। मेरे लिए वह कापालिक या तांत्रिक जैसे रहस्यमय थे। इस पृष्ठभूमि में उनका पत्र मिलने से मुझे जो अनुभूति हुई, उसकी आप कल्पना कीजिए। पत्र में बहुत थोड़े शब्द

1. Ghost writer का पर्याय

थे लेकिन हर शब्द अतिशय नम्रता व्यक्त करता था। उन्होंने मेरे एक लेख की सराहना की थी और लिखा था, यदि मैं उनसे मिल सकूँ तो वे उस लेख के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करना चाहेंगे। इस पत्र में उन्होंने अपना जो पता दिया था, वह एक 'मैडिकल शाप' थी और मुझे वह अस्वाभाविक लगा। वह नगर की एक प्रसिद्ध मैडिकल शाप थी जिसमें एक अधेड़ उम्र का गोरा-सा व्यक्ति मैनेजर की सीट पर बैठा रहता था। मैं दो-एक बार उस दूकान में जा चुका था। उस शाम मैं उस दूकान में पहुँचा और दूकान के मैनेजर उस गोरे अधेड़ व्यक्ति से पूछा, "क्या चन्द्रनाथजी यहाँ मिल सकेंगे?" वह व्यक्ति एकदम अट्टहास कर उठा और मुझे बाँहों में भरते हुए बोला, "मैं ही चन्द्रनाथ हूँ।" मैं हतबुद्धि रह गया, लेकिन वह गोरा अधेड़ व्यक्ति अब मेरे लिए बिल्कुल बदल चुका था। उसकी मधुर मुस्कान और अनौपचारिक बर्ताव ने मेरे हृदय को जीत लिया था। हम उसी क्षण अच्छे दोस्त हो गए। अब मैंने जाना कि चन्द्रनाथजी सभा-सोसायटी में क्यों नहीं उपस्थित हो पाते। उन्हें दूकान से अवकाश ही नहीं मिल पाता था। इस व्यस्तता के बावजूद वह साहित्य-सृजन में संलग्न थे, यह देख मुझे उनके प्रति कौतुक-पूर्ण श्रद्धा हुई। फिर मैं अक्सर उस मैडिकल शाप में दिखने लगा। दोपहर को शाप में ग्राहक नहीं होते, इसलिए मैं उसी समय उनसे मिलता।

आज मैंने यूँ ही कहा, "मौक़े तो कई मिल रहे हैं, लेकिन मैं चाहता हूँ कि अपनी रुचि का पेशा करूँ। आदमी को जब तक अपनी रुचि का पेशा नहीं मिलता, वह सन्तुष्ट नहीं होता।"

चन्द्रनाथजी ने जब इस बात को अन्यथा समझा, तो मैं भी व्यंग्य करने से न चूका, "महाशय चन्द्रनाथजी, आप असन्तुष्ट भले ही न हों, लेकिन क्या आप महसूस नहीं करते कि इस 'मैडिकल स्टोर' के मैनेजर के रूप में आपकी प्रतिभा एवं क्षमता का दुरुपयोग हो रहा है? आपमें एक साहित्यकार की प्रतिभा है, लेकिन..."

"वाहियात बात है।" मेरे व्यंग की उपेक्षा कर उसी भावावेश में वह बोले, "कभी मैं भी तुम्हारी तरह ही सोचता था यानी आदमी को अपनी रुचि का पेशा मिलना चाहिये, लेकिन तजुर्बे से मैंने जाना कि आदमी अपनी रुचि को 'मार्केट' में लाकर संतोष नहीं पा सकता।"

मुझे हैरत हुई कि चन्द्रनाथजी ने यह तजुर्बा कहाँ पाया होगा। वास्तव में उनके पिछले जीवन के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता था। आज

तक न उन्होंने कभी अपने पिछले जीवन के बारे में कोई बात बताई थी, और न ही मैंने कभी उनसे पूछा था।

इसी समय स्टोर में एक ग्राहक आया और उसको निबटाने के बाद चन्द्रनाथ बोले, "किन्हीं कारणों से मैंने अपनी पिछली ज़िन्दगी पर परदा डाल रखा था। शांता को भी वह प्रकरण नहीं मालूम। दूसरे लोगों की तरह वह भी समझती है कि मैंने जीविकोपार्जन के लिए एक ग़लत पेशा चुना है और अपनी आत्मा की आवाज़ को दबा रखा है। पर मैं तुम्हें बताऊँ, आदमी अपनी रुचि के साथ बेईमानी बर्दाश्त नहीं कर सकता और इसलिए उचित यही है कि जीविका के लिए वह रुचि का पेशा न चुने। मैंने अपनी ज़िंदगी के प्रारम्भ में रुचि का पेशा अपनाकर एक मूर्खता की थी, लेकिन तब मैं उसे मूर्खता न मानता था। न जाने कब तक मैं उस मूर्खता को ढोता, शायद एक पूरी ज़िन्दगी उसी मूर्खता में गुज़ार देता, लेकिन एकाएक ही मेरी ज़िंदगी का रुख़ बदल गया।···

वह एकाएक रुक गए। मुझे लगा, जैसे वह किसी गहरे मानसिक द्वन्द्व में पड़ गए हैं। खिड़की से ग्रीष्म की लू के झोंके आने लगे थे। उन्होंने खिड़की पर पर्दा डाल दिया।

"तुम तो मुझसे इस 'मैडिकल स्टोर' में परिचित हुए हो," वह बोले, "तुम्हें शायद मालूम नहीं, इसके पूर्व मैं दिल्ली में था और वहाँ एक स्वतन्त्र लेखक था, अंग्रेज़ी में जिसे 'फ्री लान्स रायटर' कहेंगे। कहने को स्वतन्त्र था, पर सच मानो, उन दिनों मेरी स्थिति बहुत दयनीय थी। उस दयनीयता के बावजूद मुझे सन्तोष होता कि मैंने अपनी रुचि का पेशा अपना रखा है और मैं स्वप्न देखता कि एक दिन दुनिया मेरी साहित्यिक प्रतिभा का लोहा मान लेगी। आज उन स्वप्नों की बात सोचता हूँ तो मैं स्वयं पर हँसता हूँ। उन परिस्थितियों में तो मेरे वे स्वप्न सचमुच शेखचिल्ली की उड़ान थे। फिर भी मैं आशा के विरुद्ध आशा सँजोये था।

"उन दयनीय परिस्थितियों में रहकर सदा मैं सोचा करता, क्या मैं ज़िंदगी में कभी एक उद्देश्य, एक स्थिरता नहीं पा सकूँगा। शांता से उन्हीं दिनों मेरा परिचय हुआ था और हम विवाह के लिए वचन-बद्ध हो गये थे। हम किसी भी क्षण विवाह कर सकते थे लेकिन मैं अपनी अनिश्चित आर्थिक स्थिति के कारण उसे टालता जा रहा था। शांता ने मेरी मदद के लिए एक

दफ़्तर में टाइपिस्ट की नौकरी कर ली थी और वह बहुत धैर्य से उस क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी ।

"पर शांता के नौकरी करने से मेरी समस्या सुलझी नहीं । उल्टे, वह अधिक उलझ गयी । एक पुरुष होकर कैसे मैं उसकी सहायता स्वीकार करता ? इस मनःस्थिति में अपने सिद्धान्तों के प्रति मुझमें वह दृढ़ता नहीं रही । उन्हीं दिनों एक अखबार के सम्पादक से मेरा परिचय हुआ ।…"

"क्या नाम था उसका ?" मैंने पूछा ।

चन्द्रनाथजी ने कुछ सोचकर कहा, "तुम उसका नाम आशुतोष समझ सकते हो । मैं उसका सही नाम नहीं बताऊँगा । वह एक विचित्र प्राणी था । उसके पास प्रचुर धन था और उसका ख़याल था कि धन होने से आदमी सब कुछ पा सकता है—कुँजड़िन की सब्जियों की तरह औरत की अस्मत और आदमी की बल-बुद्धि भी । वह मूर्ख व्यक्ति था लेकिन अपने व्यक्तित्व में विद्वत्ता का असर पैदा करने के लिए सुनहरी कमानी की ऐनक लगाये रखता जिसका पावर 'जीरो' होता । उसने कहीं पढ़ या सुन रखा था, दाढ़ी ने लिंकन को अमरीका का प्रेसिडेण्ट बना दिया था । अपनी ऐनक के बारे में उसके मस्तिष्क में ऐसा ही कोई अद्भुत ख़याल था । उसने न जाने कैसे, मुझे अपने काम का आदमी समझ लिया । एक दिन मुझसे बोला, "चंदर, यह रेडियो 'टॉक' तैयार कर दो ।"…मैंने कहा, "टॉक' तो आपके नाम है ।" उसने लापरवाही से कहा, "तो क्या हुआ ? तुम जानते हो, मैं व्यस्त व्यक्ति हूँ । मेरे पास समय ही कहाँ है जो उसके लिए माथा-पच्ची करता बैठूँ । मैं तो इसे 'कैंसिल' करना चाहता था लेकिन रेडियो अधिकारी एकदम पीछे पड़ गए हैं । उन्हें कैसे निराश करूँ ? हाँ, तुम कोई संकोच मत करो । इस काम का मैं तुम्हें पूरा मेहनताना दूँगा । इस 'टॉक' से जो फ़ीस मुझे मिलेगी, वह तुम्हारी होगी । यह नहीं कि मैं आशुतोष की नीयत से वाक़िफ़ नहीं था, पर मैं लाचार था । आशुतोष को कीर्ति चाहिए थी और मुझे पेट के लिए रोटी । मैंने उसे न केवल रेडियो 'टॉक' लिखकर दी, बल्कि समय-समय पर अनेक लेख और भाषण लिख दिए । मेरे रुचि के पेशे की आख़िर यह परिणति थी । आशुतोष की सामाजिक हैसियत अच्छी थी और वह मेरी क़लम के ज़ोर पर अपनी धाक जमाता जा रहा था । वह मेरी विवशता को अच्छी तरह समझ गया था और अपने ढंग से वह मेरा पूरा फ़ायदा उठा रहा था ।

उन दिनों मैं अजीब-सी उद्विग्नता में पड़ा छटपटाता रहता, लेकिन मैं विरोध नहीं कर पा रहा था। मुझे वह सब करना पड़ रहा था जो मैं करना नहीं चाह रहा था। मैं दिन-ब-दिन एक प्रेत-लेखक होता जा रहा था, मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व क्षीण हो गया था।

"इस बार आशुतोष ने मुझे एक नया ही काम सौंपा। कोई प्रकाशक आशुतोष से एक पुस्तक चाहता था। आशुतोष ने मुझे पुस्तक का विषय बताया और पारिश्रमिक पेशगी दे दिया। लेकिन इस समय मैं भड़क उठा। आखिर मैं उसे एक मौलिक किताब लिखकर कैसे दे सकता था? मैंने इन्कार किया। पर आशुतोष नहीं माना। अब वह मुझसे बिल्कुल खुल गया। उसने बेहूदगी की पराकाष्ठा कर दी। बोला—"जैसे दस लेख वैसी एक किताब। तुम्हें ऐतराज़ नहीं होना चाहिए।"

"उसके शब्दों ने मुझे एहसास करा दिया कि मेरी स्थिति शरीर बेचने वाली तवाइफ़ से बेहतर नहीं है। मैं तिलमिला उठा।......आशुतोष यह कहकर चला गया, "मैं तुम्हारे जवाब का इन्तज़ार करूँगा। खूब सोचकर जवाब देना।..."

"यों कुछ दिन वह चुप रहा। फिर उसने तक़ादे शुरू कर दिये। उसका नौकर सुबह-शाम मेरे घर के दरवाज़े पर हाज़िर हो जाता। आशुतोष ऐसा ही शैतान था। इस बीच मैंने आशुतोष द्वारा दिये गये पेशगी रुपये किसी ज़रूरत पर खर्च कर दिये थे। आशुतोष भाँप गया था। एकाएक मैं उसे इन्कार भी नहीं कर सकता था। एक दिन मैं पुस्तकालय गया और कुछ सन्दर्भ ग्रन्थ उठा लाया। मैंने अपनी इच्छा के विरुद्ध आशुतोष के लिए पुस्तक तैयार करने की कोशिश की, लेकिन तुम तो जानते हो, लिखा इस प्रकार नहीं जा सकता। कम से कम एक मौलिक किताब तो इस प्रकार कदापि नहीं लिखी जा सकती। मैंने वही बात आशुतोष को बता दी। इस पर वह भड़क उठा। उसने मुझे ज़लील करना चाहा। आशुतोष की यह हिमाक़त तो देखो। गर मैं पेशगी के रुपये खर्च न कर चुका होता, तो इस हिमाक़त का एक माकूल जवाब देता। वह मुझे धमकी दे गया, "एक सप्ताह में किताब लिखकर दो, वरना ठीक न होगा।"

"उस शाम शांता मुझसे मिली तो मेरी विक्षिप्त दशा को देखकर वह घबरा गयी। उसने कहा, "जब दूसरा चारा ही नहीं है तो किताब लिख कर दे दो।"

"मैंने उसे समझाया कि किताब का मामला है । लेख या भाषण तो है नहीं, जो अनुवाद या कतरनें जुटाकर पूरा कर दूँ । फिर समय भी तो नहीं रहा ।"

शांता ने कहा, "तुम इसको इतनी गंभीरता से क्यों लेते हो ? जो बने, जैसे बने, कर दो । आखिर तुम अपने लिए तो नहीं लिख रहे हो ।"

"हाँ, यह तो ठीक है, पर···पर" कहते हुए एकाएक मेरे मस्तिष्क में एक विचार सूझा । उन परिस्थितियों में मेरे लिए उससे अच्छा ज़रिया न था । आशुतोष जैसे आदमी से निबटने के लिए एक भिन्न प्रकृति के व्यक्ति की ही ज़रूरत थी । मैंने एक सप्ताह में पुस्तक की पांडुलिपि तैयार कर आशुतोष को दे दी । उसे जाने कितनी खुशी हुई, शायद उसने मुझसे पुस्तक पाने की उम्मीद छोड़ दी थी । उसी उत्साह में वह बोला, "तुम मेरे मस्तिष्क-पक्ष हो ।"···मेरे चेहरे पर एक तिक्त मुस्कान बिखर गयी ।

"पुस्तक प्रकाशित हुए एक सप्ताह हो गया था । मैंने शान्ता को बता दिया था कि मुझे आगरा में एक मेडिकल शॉप में नौकरी मिल रही है । पहले तो वह इसके लिए सहमत नहीं हुई बाद में उसने कहा कि वह भी साथ चलेगी । आगरा जाकर मैंने जो पहला काम किया, वह शान्ता के साथ विवाह था । और यों मैंने अपनी ज़िन्दगी, अपना पेशा बदल दिया था ।"

चन्द्रनाथ जब चुप हो गये तो मैंने पूछा, "क्या बात पूरी हो गई ?"

"हाँ, मुख्य बात तो मैं कह चुका हूँ", वह बोले, "लेकिन तुम्हें शायद इस गौण बात में भी रुचि हो कि पुस्तक छपने के एक सप्ताह बाद आशुतोष जी मुझसे बुरी तरह झगड़ पड़े थे । मैं उस दोपहर को एक पान के ठेले के सामने बैठा था । वह मुझे ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे । मुझे पाते ही एक ओर ले गये और बोले, "मिस्टर चन्द्रनाथ, यह देखो क्या बात है ?"······उनका चेहरा स्याह पड़ गया था और वह बुरी तरह हाँफ रहे थे । उन्होंने मुझे एक 'रजिस्टर्ड' पत्र दिया था । मैंने वह पत्र खोलकर देखा । वह एक अदालती नोटिस था । लिखा था, "हमारी पुस्तक की हू-ब-हू नक़ल के लिए कॉपीराइट एक्ट के अन्तर्गत क्यों न आपके ख़िलाफ़ कानूनी कार्यवाही की जाये ।"

"पत्र आशुतोषजी को लौटाते हुए मैंने पूछा, "मुझे यह नोटिस दिखाने से आपका अभिप्राय क्या है ?"

वह चिल्लाये, "अरे, यह उसी पुस्तक के सम्बन्ध में है जो तुमने मुझे लिखकर दी थी ।"

"मैंने आपको कोई पुस्तक लिखकर नहीं दी"—मैंने दृढ़ शब्दों में कहा—"आपको ग़लतफ़हमी हो गई है।"

"और आशुतोष की गालियों की उपेक्षा कर ऊँचा सिर किये बड़ी बेफ़िक्री से मैं वहाँ से यूँ चला आया जैसे हवा मैदानों में बहती है। उस क्षण यह चन्द्रनाथ एक भिन्न ही व्यक्ति था।"

चन्द्रनाथ अपनी बात कह चुके थे और मैं उनके चेहरे को इस ख़याल से घूरने लगा कि वह मेरे साथ कोई मज़ाक तो नहीं कर रहे। लेकिन वह गम्भीर थे। एकाएक मुझे ख़याल आया, चन्द्रनाथ ने आज अचानक ही एक रहस्य उद्‌घाटित कर दिया है। मैंने कहा, "आप तो इस प्रकरण को छुपा रखना चाहते थे?"

"मैंने गल ी से उसे उद्‌घाटित नहीं किया है", मुस्कराते हुए चन्द्रनाथ बोले, "कुछ ही दिन पूर्व आशुतोष इस दुनिया से रुख़सत ले चुका है। अब इस रहस्य को गोपनीय रखने की जरूरत नहीं रही।"

"एक बात और बताइये," मैंने कहा, "आशुतोष क्या बाद में भी लिखता रहा,···मेरा मतलब लिखाता रहा?"

वह बोले, "अरे भाई, ऐसे आदमियों के दो नहीं, हज़ार हाथ होते हैं। कम्बख़्त दर्जन भर किताबें लिखकर मरा है।"

"एक दर्जन किताबें।" एकाएक मैं बोल उठा, "एक दर्जन किताबें लिखकर तो पिछली फरवरी में खेचक जी ही मरे हैं। क्या आशुतोष वही हैं।"

चन्द्रनाथजी ने एकाएक कोई जवाब नहीं दिया। गम्भीर होकर वह बोले, "मनमोहन, मैं समझता हूँ मैंने शुरू से ही एक ग़लत रुचि अपनायी। यह रुचि तो वह रखे, जो फ़कीर हैं, या शाहंशाह। बीच के आदमी को तो बस मौत हैं।"

उनके स्वर की अस्वाभाविक गम्भीरता ने मुझे अभिभूत कर दिया। उस क्षण मुझे फिर सन्देह हुआ, क्या वह अपने वर्तमान पेशे से संतुष्ट हैं?